मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 87 ● वर्ष 10, अंक 1 ● मार्च 2020 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

आम आदमी पार्टी की जीत के मायने : मज़दूर वर्गीय नज़रिया 7

हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वत:स्फूर्ततावाद से आगे जाने की ज़रूरत क्यों है? 9

बढ़ती बेरोज़गारी और ढपोरशंखी सरकारी योजनाएँ 16

सीएए–एनआरसी–एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को हिन्दुत्व फ़ासीवाद–विरोधी आन्दोलन की शक्ल दो!

फ़ासीवादी दंगाइयों के मंसूबों को नाकाम करो!

आम मेहनतकशों की वर्ग एकजुटता क़ायम करो!

एनपीआर की प्रक्रिया के विरुद्ध नागरिक अवज्ञा आन्दोलन को मज़बूत करो!

दिल्ली चुनावों के बाद भाजपा सरकार के फ़ासीवादी हमले और भी तेज़ हो गये हैं। ऐसी ही उम्मीद भी थी। 8 फ़रवरी के बाद कुछ ही दिनों के भीतर दिल्ली में सरकारी मशीनरी की पूरी मिलीभगत के साथ मुसलमानों पर किये गये फ़ासीवादी हमले और दंगे के ज़रिये देश भर में नये सिरे से धार्मिक ध्रुवीकरण करने का प्रयास किया गया है। हिन्दुत्व के एजेण्डा पर खुलकर काम करने की रफ़्तार बढ़ा दी गयी है और इसमें फ़ासीवादी दंगे और क़त्लेआम की हमेशा से ही एक विशेष भूमिका रही है। उत्तर प्रदेश की योगी सरकार तो पहले से ही क़ानून और संविधान को ताक पर रखकर, न्यायालयों को ठेंगा दिखाकर लगातार अपनी मनमानी कर रही है और मुसलमानों और राजनीतिक विरोधियों को हर प्रकार से कुचलने की हरकतों में लगी हुई है। कर्नाटक और उत्तराखण्ड की सरकार भी अधिक से अधिक फ़ासीवादी बर्बरता दिखाने में उत्तर प्रदेश की योगी सरकार के साथ प्रतिस्पर्द्धा में लगी हुई है। ख़ुद केन्द्र की मोदी सरकार ने भी मज़दूर वर्ग, अल्पसंख्यकों, दलितों, आदिवासियों और औरतों पर अपने हमलों को दिल्ली चुनावों में बाद बढ़ा दिया है। न्यायालयों, नौकरशाही, सशस्त्र बलों और पुलिस का फ़ासीवादी 'टेकओवर' अभूतपूर्व रूप से तेज़ी से बढ़ा है।

अब आम मेहनतकश जनता भी समझ रही है कि न्यायालयों से इन्साफ़ की उम्मीद करना अब बेकार है। जहाँ एक दंगाई नेता के विरुद्ध फ़ैसला सुनाने वाले जज का तबादला कर दिया जाता है, उसके ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज करने वाले अधिकारी को बर्ख़ास्त कर दिया जाता है, जहाँ उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री खुले तौर पर न्यायालय के फ़ैसलों की धज्जियाँ उड़ाते हुए नागरिकता संशोधन क़ानून और नागरिकता रजिस्टर का विरोध करने वालों की तस्वीरें अपराधियों के समान शहर के चौराहों पर लगवाता है और अदालत को हिदायत देता है कि इस कार्रवाई में दख़ल देने की जुर्रत न करे, जहाँ गुजरात के नरसंहार के हत्यारों को अदालत पेरोल देकर "सामाजिक सेवा" करने की सलाह देती है, और दूसरी तरफ़ डॉ. कफ़ील ख़ान को ज़मानत तक नहीं मिलती, जहाँ चिन्मयानन्द जैसे बलात्कारियों को ज़मानत मिल जाती है और जन-अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालों को नाजायज़ तरीक़े से अदालतें ज़मानत देने से इन्कार कर देती हैं, वहाँ मौजूदा मुनाफ़ाखोर समाज में पूँजीवादी न्यायपालिका से न्याय मिलने की बची-खुची उम्मीदें भी ख़त्म हो चुकी हैं। न्यायपालिका से लेकर सशस्त्र बल, पुलिस और

सम्पादक मण्डल

नौकरशाही तक को फ़ासीवादी संघ परिवार अपनी घुसपैठ का शिकार बना चुका है, यह ख़ास तौर पर पिछले छह महीनों में दिखलाई पड़ गया है। इन सारी साज़िशों और बर्बर दमन के पीछे मूलभूत कारण क्या हैं? ये मूलभूत कारण हैं अभूतपूर्व आर्थिक संकट और जनता के लिए उसके नतीजे।

मौजूदा आर्थिक संकट फ़ासीवादी उभार के पीछे प्रमुख मूलभूत कारण है

बड़ी पूँजी की सेवा में जनता से लूट कर कॉरपोरेट घरानों की तिजोरियों में माल भरने के मामले में मोदी सरकार ने नंगई और बेशर्मी के सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये हैं। 'यस बैंक' के ढहने के साथ बैंकिंग सेक्टर में चल रहा फ़ासीवादी घोटाला एक बार फिर से खुलकर सामने आ गया है। 2014 के बाद से जिन बैंकों ने क़र्ज़े वापस न करने वाले पूँजीपतियों को जमकर बड़े-बड़े क़र्ज़ दिये, उन बैंकों में यस बैंक काफ़ी आगे रहा था। अब इन क़र्ज़ों की वापसी न होने के कारण जब यस बैंक ढह रहा है, तो स्टेट बैंक को यह निर्देश दिया जा रहा है कि वह आम जनता की बचत को लगाकर यस बैंक को बचाये। आज अगर भारत में बेरोज़गारी चरम पर है और आर्थिक संकट ने समूची अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ रखी है, तो यह मोदी सरकार द्वारा आर्थिक प्रबन्धन में अज्ञान की कमी मात्र नहीं है, जैसा कि कई लोग समझते हैं। दरअसल, यह वैश्विक मन्दी के दौर में हर क़ीमत पर बड़े पूँजीपतियों को जनता को लूट कर बचाने के लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा सोच-समझकर उठाये गये क़दम हैं। **मन्दी के दौर में चूंकि मुनाफ़े की औसत दर काफ़ी गिर चुकी है और निवेश की दर लगातार गिर रही है, इसलिए सरकार पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए बैंकों द्वारा क़र्ज़ पर ब्याज़ दर को भी घटाती जा रही है और साथ ही क़र्ज़ लेने पर लगने वाली सारी शर्तों को भी बिल्कुल ढीला कर दिया गया है, ताकि मुनाफ़े की दर बढ़े और पूँजीपति वर्ग निवेश करे। संकट का ज़िम्मेदार पूँजीपति वर्ग और उसके मुनाफ़े की हवस है, लेकिन उसकी क़ीमत हमेशा जनता से वसूली जाती है। पीएमसी बैंक और अब यस बैंक का मामला यही दिखलाता है। कॉरपोरेट घरानों को न लौटाये जाने वाले अरबों रुपये के क़र्ज़ दिये गये और अब लुट गये माल की भरपाई सरकारी स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया आम जनता के पैसों से करेगा।** लेकिन यह महज़ अर्थव्यवस्था का मोदी सरकार द्वारा कुप्रबन्धन नहीं है, बल्कि यह आज का फ़ासीवादी प्रबन्धन है जिसमें खुले तौर पर आम मेहनतकश जनता को लूटने की छूट पूँजीपति वर्ग को दी जा रही है, सभी श्रम क़ानूनों से उसे छुटकारा दिलाया जा रहा है, उनकी जुएबाज़ी की क़ीमत जनता से वसूली जा रही है, डूब रहे पूँजीपतियों को जनता के पैसे उड़ाकर बचाया जा रहा है और औने-पौने दामों पर सरकारी कम्पनियाँ अम्बानियों-अडानियों को सौंपी जा रही हैं।

इन नीतियों का ही नतीजा यह है कि बेरोज़गारी 50 वर्षों में अपने चरम पर है। बेरोज़गारी कोई प्राकृतिक आपदा तो है नहीं! यह पूँजीवादी व्यवस्था की पैदावार होती है। बेरोज़गारों की एक रिज़र्व फ़ौज की ज़रूरत पूँजीवाद को हमेशा ही होती है। लेकिन आज के दौर में बेरोज़गारी के अभूतपूर्व रूप से बढ़ने का कारण भी मोदी सरकार की आर्थिक नीतियाँ हैं, जिसमें नोटबन्दी, जीएसटी और निजीकरण प्रमुख हैं। ये ही वे नीतियाँ हैं, जिनके ज़रिये बड़ी पूँजी के लिए हर जगह मोदी सरकार ने रास्ता साफ़ किया है। नोटबन्दी और जीएसटी ने काले धन को सफ़ेद करने और अनौपचारिक क्षेत्र के छोटे पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों को बड़े पैमाने पर बन्द करवाकर बड़ी पूँजी के लिए बाज़ार को ख़ाली करने का काम किया और इसके साथ ही बेरोज़गारों की फ़ौज में चार करोड़ की बढ़ोत्तरी

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के अपने अख़बार के ज़रिये लोगों तक पहुँचें?

तो कलम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।

'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।

आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।

आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546

शहादत दिवस (23 मार्च) के अवसर पर

भगतसिंह ने कहा था –

'क़ानून की पवित्रता के बारे में...'

क़ानून की पवित्रता तभी तक रखी जा सकती है जब तक वह जनता के दिल यानी भावनाओं को प्रकट करता है। जब यह शोषणकारी समूह के हाथों में एक पुर्जा बन जाता है तब अपनी पवित्रता और महत्व खो बैठता है। न्याय प्रदान करने के लिए मूल बात यह है कि हर तरह के लाभ या हित का ख़ात्मा होना चाहिए। ज्यों ही क़ानून सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना बन्द कर देता है त्यों ही ज़ुल्म और अन्याय को बढ़ाने का हथियार बन जाता है। ऐसे क़ानूनों को जारी रखना सामूहिक हितों पर विशेष हितों की दम्भपूर्ण ज़बर्दस्ती के सिवाय कुछ नहीं है।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

जन सत्याग्रह पदयात्रा : जाति-धर्म पर बँटने के बजाय अवाम के बुनियादी मुद्दों पर एकजुट संघर्ष का पैग़ाम लेकर राजधानी में 300 किलोमीटर की यात्रा

दिल्ली में विभिन्न जनसंगठनों ने मिलकर 16 फरवरी से जन सत्याग्रह पदयात्रा शुरू की थी जिसका पहला चरण 4 मार्च को जन्तर-मन्तर पर एक जनसभा के रूप में समाप्त हुआ। यह यात्रा नरेला के भगतसिंह चौक से शुरू होकर शाहबाद डेरी, रोहिणी, भलस्वा डेरी, बुराड़ी, वज़ीराबाद, करावलनगर, खजूरी, मुस्तफाबाद, सीलमपुर, ओखला, जामिया, शाहीन बाग, हौज़रानी, कसाबपुरा होते हुए जन्तर-मन्तर तक पहुँची। पूरी यात्रा में पदयात्रियों ने करीब 300 किलोमीटर का सफर पैदल तय किया, 250 से अधिक जनसभाएँ कीं, और लाखों पर्चे बाँटते हुए जनता तक अपनी बात पहुँचायी। लोगों पर लादे जा रहे सीएए-एनआरसी-एनपीआर जैसे काले क़ानूनों की असलियत बताते हुए उनका जीवन से जुड़े असल मुद्दों पर संघर्ष के लिए उठ खड़े होने के लिए आह्वान किया गया। दिल्ली के लाखों लोगों को पदयात्रियों ने बताया कि आपस में बँटने के बजाय एकजुटता कायम करके हमें सरकार की जनविरोधी-विभाजनकारी नीतियों का विरोध करना चाहिए और मुक्का ठोककर अपने रोज़गार-शिक्षा-चिकित्सा-आवास जैसे हक़ों को उठाना चाहिए। जनता की तरफ से यात्रा को बेहद उत्साहजनक प्रतिक्रिया मिली। आम लोग झगड़े-दंगे नहीं चाहते बल्कि अमन-चैन और जीवन में खुशहाली चाहते हैं।

जन्तर-मन्तर पर हुई सभा को प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता हिमांशु कुमार, प्रख्यात कवि मंगलेश डबराल और गौहर रज़ा, जितेन्द्र मीणा, अभिनव सिन्हा, शिवानी कौल, इत्यादि वक्ताओं ने सम्बोधित किया था। तभी यह घोषणा की गयी थी कि यह महज़ पहले चरण की समाप्ति है और अगले चरण में जन सत्याग्रह पदयात्रा घर-घर जायेगी और सभी नागरिकों को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सिख हों या ईसाई, बतायेगी और सप्रमाण समझायेगी कि एनपीआर-एनआरसी केवल मुसलमानों के लिए नहीं बल्कि हर धर्म की ग़रीबों, मेहनतकशों और मध्यवर्ग के लिए खतरनाक है। असम में एनआरसी का उदाहरण साफ तौर पर इस बात को साबित करता है। इसके साथ ही गली-गली में एनपीआर-बहिष्कार समितियां बनाई जाएंगी और इसके साथ हमारे नागरिक अवज्ञा आन्दोलन को आगे बढ़ाया जायेगा।

इस यात्रा के दौरान ही दिल्ली में सुनियोजित दंगे और साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। फ़िलहाल तक भी राजधानी दिल्ली में जन-जीवन सामान्य नहीं हो पाया है। उत्तर-पूर्वी दिल्ली के इलाकों में 24 फ़रवरी से सत्ता की शह पर प्रायोजित दंगे और साम्प्रदायिक हिंसा में अभी तक की जानकारी के अनुसार 47 लोगों की जान जा चुकी है। इसके अलावा सैकड़ों लोग इन दंगों में घायल हुए हैं। करोड़ों की सम्पत्ति का नुकसान हुआ है। मरने वालों, घायल होने वालों और नुकसान झेलने वालों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों के लोग हैं।

दंगों की आग में हज़ारों लोग अपने काम-धन्धों, रोज़ी-रोज़गार और घर-बार से हाथ धो बैठे हैं। इसकी ज़िम्मेदारी कौन लेगा? हिन्दू हों या मुस्लिम हर जगह आम आबादी अभी तक भी भय और असुरक्षा के साये में है। दंगों में मरने वाले राहुल सोलंकी के पिता सीधे तौर पर कहते हैं कि भाजपा नेता कपिल मिश्रा दंगा भड़काकर चलता बना और उनका 26 साल का बेटा मारा गया। बात भी सही है। क्या कभी ऐसे दंगों में कपिल मिश्रा, वारिस पठान जैसे नफ़रत से अपनी राजनीति चमकाने वाले नेताओं का कुछ बिगड़ा है? नहीं, नुकसान होता है तो हम-आप का, गरीब लोगों का। दशकों से एक-दूसरे के साथ रहते आये लोग साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाकर एक-दूसरे के दुश्मन बना दिये गये हैं। हमें अपने महान शहीदों भगतसिंह, अशफाक़ उल्ला ख़ाँ, रामप्रसाद बिस्मिल और चन्द्रशेखर आज़ाद के जन एकजुटता और भाईचारे के सन्देश को एक पल के लिए भी भूलना नहीं चाहिए। भारत में दंगों की शुरुआत तभी हो गयी थी जब हमारा देश अंग्रेजों का गुलाम था। अंग्रेजों ने लोगों को 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत बाँटा और अपना राज-काज चलाया। आज के तमाम सत्ताधारी भी यही कर रहे हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि तमाम जाति-मज़हब के मेहनतकशों की एकजुटता ही दंगों की राजनीति को नाकाम कर सकती है।

देश में आज जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने में सरकार नाकाम साबित हो रही है। अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार है। देश की जनता भयंकर बेरोज़गारी, महँगाई की मार झेल रही है। जनता के जीवन से जुड़े असल सवालों से ध्यान भटकाने के लिए मोदी सरकार ने सीएए यानी नागरिकता संशोधन क़ानून पारित कर दिया है। यह विभाजनकारी क़ानून नागरिकता को धर्म के साथ जोड़ता है, जोकि संविधान के अनुच्छेद 14 के ख़िलाफ़ है। मोदी सरकार एनआरसी यानी राष्ट्रिय नागरिकता रजिस्टर लाने की तैयारी भी कर चुकी है जिसकी पहली मंजिल एनपीआर यानी राष्ट्रिय जनसँख्या रजिस्टर है, जिसकी प्रक्रिया 1 अप्रैल से चालू होने वाली है। आज के समय जब सरकार को अर्थव्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए, जब उसे बेलगाम महँगाई और बढ़ती बेरोज़गारी पर नियन्त्रण करना चाहिए तब वह लोगों के जीवन में नयी असुरक्षा पैदा करने की तैयारी कर रही है। मोदी सरकार नोटबन्दी से भी बड़ी त्रासदी में देश की जनता को धकेलने की योजना बना चुकी है। हमारा यह स्पष्ट मानना है कि सीएए बेहद गैरजनवादी और विभाजनकारी क़ानून है जिसने खासतौर पर अल्पसंख्यक मुस्लिम आबादी के बीच असुरक्षाबोध को बढ़ा दिया है। दूसरी ओर एनआरसी, एनपीआर की पूरी प्रक्रिया भी बेहद ख़र्चीली और जनता को डिटेंशन कैम्पों/नज़रबन्दी गृहों में धकेलने वाली है। असम का उदाहरण हमारे सामने है जब हज़ारों करोड़ सरकारी रुपया खर्चा हुआ, लाखों करोड़ जनता के रुपये खर्च हुए और 19 लाख से भी ज़्यादा आबादी के भविष्य के सामने प्रश्न चिन्ह लग गया। सरकार के पास ऐसे तमाम उपकरण हैं जिनसे आबादी और नागरिकों का लेखा-जोखा रखा जा सकता है और रखा जाता रहा है। इसीलिए हम कहते हैं हमें एनआरसी यानी नागरिकों का रजिस्टर नहीं बल्कि देश के तमाम बेरोज़गारों का रजिस्टर चाहिए। हमें सीएए यानी नागरिकता संशोधन क़ानून नहीं बल्कि रोज़गार गारण्टी क़ानून चाहिए। जीवन में बर्बादी लाने के लिए नहीं बल्कि जीवन स्थितियों में बेहतरी लाने के लिए ही हम सरकार चुनते हैं और अपना पेट काटकर टैक्स देकर सरकारी खजाना भरते हैं।

यह दूसरा चरण अब शुरू हो चुका है। जन सत्याग्रह पदयात्रा टोलियां गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले जाकर यह कार्रवाई आरम्भ कर चुकी है।

– बिगुल संवाददाता

सीएए-एनआरसी पर घर में मीटिंग कर रहे नौभास कार्यकर्ताओं को अँधेरगर्दी करते हुए जेल भेजा!
फ़ासिस्ट सत्ता अपने विरोध में उठी हर आवाज़ को कुचलने के लिए हर नियम-क़ानून को रौंदने पर आमादा है!

सीएए-एनआरसी के विरोध में देशभर में हो रहे विरोध से बौखलायी भाजपा की सरकारें आन्दोलन का दमन करने और विरोध में उठने वाली हर आवाज़ का गला घोंटने पर इस क़दर आमादा हैं कि क़ानून-संविधान-मानवाधिकार सबको बेशर्मी के साथ जूते की नोक पर रखकर मनमाने फ़ैसले किये जा रहे हैं। शाहीन बाग़ में गोली चलाने वाले कपिल गुर्जर को ज़मानत मिल जा रही है मगर कर्नाटक के एक स्कूल में सीएए-एनआरसी पर महज़ नाटक खेलने के कारण देशद्रोह के आरोप में हफ़्तों से बन्द 21 लोगों को हाईकोर्ट से मिली ज़मानत भी सुप्रीम कोर्ट ख़ारिज कर दे रहा है। लखनऊ में जिन सामाजिक कार्यकर्ताओं पर पुलिस ने फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाये थे, अब योगी सरकार ने न्याय, मानवाधिकार और सभ्यता के सामान्य उसूलों को भी तार-तार करते हुए उनके नाम-पते सहित होर्डिंग शहर में लगवा दिये और अदालत की फटकार के बाद भी मुँहजोरी पर आमादा है। उत्तराखंड की त्रिवेंद्र रावत सरकार भी इसी नक़्शे-क़दम पर चल रही है।

सीएए-एनआरसी के विरोध में देशभर में हो रहे विरोध से बौखलाये फ़ासिस्ट पुलिस-प्रशासन-अदालत सबको जूते की नोक पर रखकर आन्दोलन का दमन करने पर उतर आये हैं। चाहे गाजीपुर में सत्याग्रह पदयात्रियों के जत्थे को गिरफ्तार करके जेल भेजना हो, डा. कफील खान को जमानत मिलने के बाद भी रिहा न करके जेल में ही उन पर रासुका लगा देना हो, लखनऊ में जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ थाने में मारपीट और दुर्व्यवहार करना हो, दिल्ली में महिला वकीलों और शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी और मारपीट हो, ऐसे कारनामों की फ़ेहरिस्त लम्बी होती जा रही है जिन पर किसी भी सभ्य और "लोकतांत्रिक" देश में सरकार के लिए जवाब देना मुश्किल हो जाता।

इसी कड़ी में कल देहरादून में एक नागरिक के घर पर सीएए-एनआरसी के विरुद्ध मीटिंग कर रहे नौजवान भारत सभा के दो कार्यकर्ताओं को पुलिस ने बिना किसी वारण्ट या आरोप के अवैध तरीक़े से उठा लिया था। साथ में दो स्थानीय नागरिकों को भी पुलिस पकड़कर ले गयी थी। रात भर पूछताछ के बहाने थाने में बैठाये रहने के बाद पुलिस ने आज सुबह स्थानीय नागरिकों को तो छोड़ दिया मगर नौभास कार्यकर्ताओं अपूर्व और अंगद पर धारा 151 के तहत "शान्तिभंग की आशंका" का केस दर्ज कर लिया। कहाँ तो मजिस्ट्रेट को पुलिस से यह जवाब तलब करना चाहिए था कि अगर कुछ लोग बन्द कमरे में बैठकर बातचीत कर रहे हैं तो इससे शान्तिभंग की आशंका कैसे है, मगर मजिस्ट्रेट उल्टे इन कार्यकर्ताओं से ही जवाब तलब कर रही थीं कि जब देश का माहौल ख़राब है तो वह रात में मीटिंग क्यों कर रहे थे! इससे पहले रात में कुछ पुलिस वालों को थाने में यह कहते हुए साफ़ सुना गया था कि धारा-वारा क्या होती है, इन लोगों को कुछ दिन जेल में रखकर मज़ा चखाना है। स्पष्ट था कि उन्हें ऊपर से निर्देश थे।

दरअसल, देहरादून के शास्त्रीनगर खाला इलाक़े में दो मार्च की शाम को एक स्थानीय नागरिक के घर पर नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता सीएए-एनआरसी के बारे में लोगों को बताने और एनपीआर का बहिष्कार करने के बारे में मीटिंग कर रहे थे। ज्ञातव्य है कि नौभास की ओर से कई राज्यों में ऐसा अभियान चलाया जा रहा है और जगह-जगह इस मुद्दे पर मोहल्ला कमेटियाँ गठित की जा रही हैं। इसी क्रम में उस दिन की मीटिंग में क़रीब 25 पुरुष व महिलाएँ उपस्थित थे। मीटिंग के दौरान ही अचानक पुलिस वाले कमरे में घुस आये और अपूर्व मालवीय का नाम लेकर पूछा और उन्हें अपने साथ बाहर चलने के लिए कहा। नौभास के साथी अंगद मीटिंग का फ़ेसबुक लाइव कर रहे थे जिस पर यह सारी घटना कई मित्रों ने देखी। पुलिस अपूर्व के साथ ही अंगद को तथा दो अन्य नागरिकों को भी पकड़कर बसंतविहार थाने ले गयी। अंगद के फ़ोन से फ़ेसबुक लाइव को भी तत्काल डिलीट कर दिया गया।

इन दो युवा कार्यकर्ताओं को किसी न किसी बहाने जेल में रखने के लिए क़ानून को औंधे मुँह खड़ा कर दिया गया। पहले तो मजिस्ट्रेट ने उनकी ज़मानत के लिए ऐसी शर्तें लगा दीं जिन्हें पूरा करना लगभग असम्भव था, कम से कम आज के माहौल में! धारा 151 के मामलों में आम तौर पर निजी मुचलके पर ही ज़मानत हो जाती है, लेकिन इन दो नौजवानों के लिए सिटी मजिस्ट्रेट ने शर्त लगा दी कि दो राजपत्रित अधिकारी (प्रवर्ग ख के) ज़मानती हों और एक-एक लाख के दो बॉण्ड भी दिये जायें। अव्वलन तो किसी भी क़ानून या नज़ीर के तहत ऐसी शर्त नहीं लगायी जा सकती, दूसरे कोई राजपत्रित अधिकारी क्यों किसी की ज़मानत लेगा! इस वाहियात और निश्चय ही राजनीतिक दबाव में दिये आदेश के विरुद्ध नौजवान भारत सभा की ओर से पिछले शुक्रवार को नैनीताल हाईकोर्ट में याचिका दायर की गयी थी। वहाँ का अनुभव एक बार फिर यह बताने के लिए काफ़ी था कि अदालतें किस क़दर भगवा रंग में रंग चुकी हैं। हालाँकि अब इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है, मगर वहाँ पर एक जज ने अपने चैम्बर में वकीलों को फटकार लगाते हुए सीएए-एनआरसी का विरोध करने वालों के बारे में जिस तरह की भाषा में टिप्पणियाँ कीं उसे "शॉकिंग" ही कहा जा सकता है। उन्होंने कुछ बेवजह के तकनीकी नुक़्ते बताकर याचिका की फ़ाइल वापस कर दी और यह भी जता दिया कि उनकी अदालत से इस मामले में उम्मीद रखना व्यर्थ है।

इतना ही नहीं घरवालों पर दबाव बनाने के लिए प्रशासन ने उनके पते देकर पत्रकारों को घरों पर भेजा और देहरादून, गोरखपुर और सोनभद्र के अख़बारों में एक जैसी ख़बरें छपवायी गयीं जिनको पढ़कर ऐसा लगेगा मानो कोई ख़तरनाक अपराधी पकड़े गये हों।

असल में सरकार जनविरोधी और विभाजनकारी सीएए, एनआरसी और एनपीआर क़ानून के ख़िलाफ़ देश भर में चल रहे जनान्दोलनों से बौखलायी हुई है और किसी भी तरह के नागरिक जनवादी अधिकारों को कुचल देने पर आमादा है. कमरे के भीतर शान्तिपूर्ण बैठक कर रहे नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी सरकार की बौखलाहट को दिखाती है। लेकिन इन हमलों से आन्दोलनकारियों के हौसले और बुलंद होंगे।

बहरहाल, नौजवान भारत सभा के दोनों साथियों, अपूर्व और अंगद को रिहा करवाने की क़ानूनी लड़ाई तो चलती रहेगी, मगर यह साफ़ है कि इस राजनीतिक हमले का मुक़ाबला राजनीतिक तौर पर भी करना होगा। इस गिरफ़्तारी के ज़रिये भाजपा सरकार सीएए-एनआरसी के विरोध में आन्दोलनरत सभी जनसंगठनों और कार्यकर्ताओं को यह मैसेज देना चाहती है कि आज इनको जेल में डाला है, कल तुम्हारी भी बारी आ सकती है। उन्हें लगता है कि मुसलमानों को तो उन्होंने पहले ही काफ़ी आतंकित कर रखा है, अब इन दो नौजवानों के ज़रिये वे यह भी दिखाना चाहते हैं कि सीएए-एनआरसी के विरोध में आवाज़ उठाने वाले "हिन्दुओं" को भी नहीं बख़्शा जायेगा। इस आन्दोलन को केवल मुसलमानों का विरोध साबित करने और उन्हें और अधिक अलग-थलग करने की उनकी कुटिल चेष्टा का यह भी एक अंग है। देहरादून और उत्तराखंड के जनसंगठन, राजनीतिक पार्टियाँ और ऐक्टिविस्ट इस घटिया साज़िश को समझ भी रहे हैं और इस पर क्षोभ व्यक्त करते हुए इस मसले पर एकजुट विरोध की तैयारी भी कर रहे हैं। भाजपा सरकार की हरचन्द कोशिशों के बावजूद यह आन्दोलन और व्यापक शक्ल अख़्तियार करेगा।

– बिगुल संवाददाता

छपते-छपते...

मज़दूर बिगुल का यह अंक प्रेस में जाने तक यह जानकारी मिली है कि 11 मार्च को दोनों साथियों की ज़मानत हो गयी है।

ट्रम्प की भारत यात्रा : "गुजरात मॉडल" की सच्चाई दीवारों के पीछे छिपाये न छिपेगी

– लालचन्द्र

पिछली 24-25 फ़रवरी को अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान अहमदाबाद में ट्रम्प के रोड शो का आयोजन किया गया। चूँकि इस रोड शो के रास्ते के कुछ हिस्से में ग़रीबों की झोंपड़पट्टियाँ भी आ रही थीं, इसलिए फटाफट 500 मीटर लम्बी दीवार खड़ कर दी गयी ताकि ट्रम्प को "न्यू इण्डिया" का ही दर्शन हो पाये और असली भारत दीवार के पीछे छिप जाये। दीवार के बारे में पत्रकारों द्वारा पूछे जाने पर अहमदाबाद नगर निगम की मेयर बीजल पटेल ने कहा कि उन्हें ऐसी किसी दीवार के बारे में कोई जानकारी नहीं है। जिस जगह दीवार बनायी गयी थी, वह सरनियावास कहलाता है जहाँ 500 परिवारों के ढाई हज़ार लोग रहते हैं। अहमदाबाद नगर निगम ने एक काम और किया कि उसने मोटेरा क्रिकेट सटेडियम के समीप रह रहे 45 ग़रीब परिवारों को हटाने का नोटिस दे दिया। यह है मोदी-भाजपा-संघ के "न्यू इण्डिया" की असलियत! मन की बात में मोदी कहते हैं कि वे नये भारत में अब पुरानी सोच से चलने को तैयार नहीं हैं, यानी ग़रीबी हटाने की सोच पुरानी हो गयी है, अब न्यू इण्डिया की नयी सोच है, 'दीवार उठाओ ग़रीबी छिपाओ।'

ग़ौरतलब है कि दो घण्टे के इस रोड शो में 120 करोड़ रुपये ख़र्च हुए। लोगों ने यह सही सवाल उठाया कि दीवार के पीछे झोपड़पट्टी छिपाने की बजाय क्या यह बेहतर नहीं होता कि इतने पैसे से उस झोपड़पट्टी में लोगों के पक्के मकान बनवा दिये जाते। लेकिन भारत सरकार ने दीवार पर पैसे फूँककर भारत की 80 फ़ीसदी ग़रीब जनता के साथ अश्लील मज़ाक़ जारी रखा। ट्रम्प परिवार व भारी-भरकम प्रतिनिधि मण्डल अहमदाबाद से आगरा होते हुए दिल्ली गया। इस यात्रा में कितना ख़र्च आया होगा, इसका अन्दाज़ा आप ख़ुद ही लगा सकते हैं। अहमदाबाद के मोटेरा स्टेडियम की क्षमता 1 लाख लोगों की है, लेकिन यात्रा से पहले ट्रम्प ने झूठ बोलने में मोदी को पीछे छोड़ते हुए यह कहा कि वे 70 लाख भारतीयों को सम्बोधित करेंगे।

एक बात और छिपायी जा रही है कि अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प की इस आधिकारिक यात्रा के दौरान अहमदाबाद में 'नमस्ते ट्रम्प' नामक कार्यक्रम का आयोजन भारत सरकार ने नहीं बल्कि 'डोनाल्ड ट्रम्प नागरिक अभिनन्दन समिति' नामक एक निजी संस्था ने किया था। यह अपने आपमें एक रहस्य है कि इस आयोजन के लिए पैसा कहाँ से आया। ग़ौर करने वाली बात यह है कि पिछले साल मोदी ने अमेरिका में 'हाउडी मोदी' नामक कार्यक्रम में भाग लिया था जिसमें उन्होंने बेशर्मी की हदें तोड़ते हुए 'अबकी बार ट्रम्प सरकार' कहा और अमेरिका में रह रहे भारतीय मूल के लोगों से ट्रम्प का समर्थन करने की अपील की। 'नमस्ते ट्रम्प' कार्यक्रम उसी के जवाब में आयोजित किया गया था। यह दोनों देशों की दक्षिणपन्थी ताक़तों के बीच के बढ़ते भाईचारे को भी दिखाता है।

ट्रम्प की यात्रा को लेकर भारतीय मीडिया ऐसी चिल्ल-पों मचा रहा था मानो इस यात्रा से भारत के वारे-न्यारे होने वाले हैं। लेकिन ट्रम्प ने यह कहकर कि व्यापक ट्रेड डील की सम्भावना कम ही है, भारत सरकार की किरकिरी करवा दी। ग़ौरतलब है कि ट्रम्प सरकार ने भारतीयों के लिए एच-1बी वीज़ा नियम काफ़ी कड़े कर दिये हैं। ट्रम्प ने भारत सरकार से यह भी शिकायत की कि उसके द्वारा अमेरिकी उत्पादों पर ज़्यादा आयात कर लगाया जाता है। तब सवाल उठता है कि इस भारी तामझाम बेहिसाब ख़र्च के बाद भारत की जनता को क्या हासिल हुआ। दिल्ली में हुई द्विपक्षीय वार्ता में घरेलू सुरक्षा, बौद्धित सम्पदा क़ानून, सिविल न्यूक्लियर डील के तहत रिएक्टर समझौते के कयास लगाये जा रहे थे, परन्तु अन्ततः कयास के गुब्बारे फूट गये क्योंकि ट्रम्प की यात्रा के दौरान कोई बड़ा क़रार नहीं हुआ।

वैसे देखा जाये तो दीवार उठाकर सच्चाई छिपाने में भाजपा माहिर है। मोदी के नेतृत्व में भाजपा सरकार अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए पूरे देश में हिन्दू और मुसलमानों के बीच, सवर्णों और दलितों के बीच अदृश्य दीवारें खड़ी कर रही है ताकि लोगों को सच्चाई न दिखे। नोटबन्दी और जीएसटी जैसे जो भी बड़े फ़ैसले लिये गये वे ज़्यादातर जनता की आशाओं पर पानी फेरने वाले साबित हुए। चरम स्तर पर बेरोज़गारी, महँगाई, दंगे-अपराध बने हुए हैं। ट्रम्प की यात्रा के दौरान दिल्ली में दंगे जारी थे, हालाँकि ट्रम्प ने मोदी की लाज रखते हुए दंगों पर कोई टिप्पणी नहीं की, लेकिन अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी मुद्दों पर बने एक अमेरिकी आयोग (यू.एस.सी. आई.आर.एफ़.) ने दिल्ली में हुई हिंसा पर चिन्ता जताते हुए कहा कि भारत को सभी नागरिकों की सुरक्षा के लिए फ़ौरन क़दम उठाना चाहिए। लेकिन जब दिल्ली धूँ-धूँ करके जल रही थी तो मोदी पलक पाँवड़े बिछाकर ट्रम्प का स्वागत करने और डिनर पार्टी में मशगूल थे। इस प्रकार उन्होंने नीरो का रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिया।

मेहनतकश अवाम के बजट पर डाका डालने वाला केन्द्रीय बजट

– शिशिर गुप्ता

इस बार पेश किये गये बजट के लिए निर्मला सीतारमण ने 'ईज़ आफ़ लिविंग' यानी "जीवनशैली की सुगमता" को विषयवस्तु बनाया। आइए देखें कि क्या वाकई में इस बजट से लोगों की ज़िन्दगी सुगम होने वाली है। अगर होने वाली है, तो क्या सभी लोगों की होने वाली है या कुछ ख़ास लोगों की?

किसानों का वर्गीय विभेदीकरण होगा और तेज़

शुरुआत करते हैं खेती से। इस बार सरकार ने किसानों के लिए 15 लाख करोड़ रुपये के कृषि क्रेडिट का लक्ष्य तय किया है, यानी किसानों को अलग-अलग रूपों में कुल मिलाकर इतने रुपये सूद पर उधार देने का इरादा है। 'द हिन्दू' की दिसम्बर, 2018 की एक ख़बर के मुताबिक़ 2017-18 के वित्तीय वर्ष में कर्ज़ के लिए तय की गयी कुल राशि का महज़ 40% ही छोटे और सीमान्त किसानों ने लिया था जो कुल किसान आबादी का लगभग 86.2% हैं। यानी, बड़े और मध्यम किसान जो कुल किसान आबादी का महज़ 13.8% हैं, उन्होंने 60% कर्ज़ लिया। बड़े, मध्यम और अर्ध-मध्यम किसानों में भी मध्यम और अर्ध-मध्यम किसानों के हालात को भी अलग से समझने की ज़रूरत है क्योंकि उन पर भी लगातार बर्बादी की तलवार लटकती रहती है, पर इस तबक़े के बारे में कभी और बात करेंगे। फ़िलहाल कर्ज़ की बात पर वापस आयें, तो स्वाभाविक ही जिसके पास गिरवी रखने के लिए जितनी सम्पदा होती है, उसे उसी हिसाब से कर्ज़ भी मिलता है। इस तरह छोटे और सीमान्त किसान अधिकतम एक-दो लाख से ज़्यादा का लोन नहीं ले पाते, जबकि बड़े किसानों को बड़े कर्ज़ मिलते हैं। छोटे व सीमान्त किसानों का कुल मुनाफ़ा या तो मामूली होता है या कई बार लागत भी नहीं निकल पाती। ऐसे में, छोटे-सीमान्त किसानों के लिए अक्सर कर्ज़ का ब्याज तक चुका पाना नामुमकिन हो जाता है, जिसके चलते वे या तो आत्महत्या करने को मजबूर हो जाते हैं, या अपनी ज़मीन बड़े किसानों को बेच देते हैं या खेतिहर ग्रामीण मज़दूर बन जाते हैं या शहरों में सेवा या औद्योगिक क्षेत्र में मज़दूरी करने चले जाते हैं। इसलिए जब इतनी बड़ी रक़म की किसानों के लिए घोषणा की जाती है, तो सुनने में भले ही यह बड़ा प्रगतिशील क़दम लगे, पर वर्गीय दृष्टि से देखने पर दूध का दूध और पानी का पानी हो जाता है। हम समझ सकते हैं कि कैसे ये सारी योजनाएँ किसानों के मुट्ठीभर धनी तबक़े को फ़ायदा पहुँचाने वाली योजनाएँ होती हैं। यह नाहक़ नहीं है कि साल दर साल ऐसी तमाम 'किसान-पक्षधर' योजनाएँ आती रहती हैं, पर किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला जारी रहता है।

शिक्षा और स्वास्थ्य से खिलवाड़ बदस्तूर जारी

सरकार ने इस बार के बजट में शिक्षा के लिए 69,000 करोड़ रुपये और स्वास्थ्य के लिए 99,300 करोड़ रुपये आवण्टित किया है। भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) इस समय लगभग 21 लाख करोड़ रुपये है। आर्थिक सर्वेक्षण के मुताबिक़ इस साल यह लगभग 6% की दर से बढ़ेगा (बजट में 10% का अनुमान लगाया गया है), यानी वित्तीय वर्ष 2020-21 के अन्त तक कुल सकल घरेलू उत्पाद लगभग 22.26 लाख करोड़ होगा। इस हिसाब से सरकार ने शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए सकल घरेलू उत्पाद का क्रमशः 3.1% और 4.5% ही आवण्टित किया है। इसकी तुलना अगर रक्षा बजट से की जाये, तो रक्षा के लिए सरकार ने सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 15.14% आवण्टित किया है। यानी रक्षा का बजट शिक्षा और स्वास्थ्य से कई गुना ज़्यादा है। क्या इसमें कोई दिक्कत की बात है? राष्ट्रीय सुरक्षा पर ख़र्च करने से भला किसी को क्या दिक्कत हो सकती है? पर 'राष्ट्रीय सुरक्षा' अपने आप में एक अमूर्त और 'वर्गविहीन' बात है। हमें पूछना चाहिए कि किसकी सुरक्षा? भारत या पाकिस्तान की आम अवाम ने कब यह आवाज़ उठायी कि इन दोनों मुल्कों को लगातार सीमा पर तनाव बनाये रखना चाहिए? आज़ादी के बाद से ही इन दोनों मुल्कों के शासक वर्गों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए, यानी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार जैसे मुद्दों से अवाम का ध्यान भटकाने के लिए लगातार कश्मीर के मुद्दे को अपने-अपने मुल्क की पहचान का सवाल बनाया हुआ है, जिसे अब भारत के सत्तारूढ़ फ़ासिस्ट एक नये मुक़ाम तक ले गये हैं। दूसरी बात, अगर सीमाओं पर तनाव न हो, तो हथियार बनाने वाले कारख़ाने कैसे चलेंगे? इज़राइल, अमेरिका, रूस, फ़्रांस जैसे मुल्कों की कम्पनियों के मुनाफ़ों का क्या होगा, इस सेक्टर में लगी अम्बानी-अडानी की कम्पनियों का क्या होगा, अगर जंग होना बन्द हो जाये? तीसरी बात, आज़ादी से लेकर आज तक के आँकड़े उठाकर देख लिये जायें, तो भारतीय सेना, पैरामिलिट्री, पुलिस इत्यादि बलों के हाथों मरने वाले सबसे ज़्यादा लोग भारत के ही निकलेंगे। ये जवाहरलाल नेहरू ही थे जिन्होंने तेलंगाना विद्रोह को कुचलने के लिए सेना भेजकर आम दलित-आदिवासी-ग़रीब जनता का कत्लेआम करवाया था। ये इंदिरा गांधी थीं, जिनके नाम सबसे पहले मिज़ोरम में अपनी ही अवाम के ऊपर वायुसेना से बम गिरवाने का रेकॉर्ड दर्ज़ है। ये नरेंद्र मोदी और योगी आदित्यनाथ ही हैं, जो इस समय ग़रीब-विरोधी एवं मुसलमान-विरोधी सीएए-एनआरसी-एनपीआर जैसे काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ चल रहे आन्दोलन में दर्जनों लोगों को मौत के घाट उतार चुके हैं। ये मोदी सरकार ही है जो मज़दूरों के छोटे से छोटे आन्दोलन को कुचलने के लिए पैरामिलिट्री और पुलिस भेजकर मज़दूरों पर बेहिसाब लाठियाँ और गोलियाँ बरसाती है। ये मनमोहन सिंह और नरेंद्र मोदी की सरकारें ही हैं, जो छत्तीसगढ़ की प्राकृतिक सम्पदा को अपने पूँजीपति आकाओं के हवाले कर देने के लिए वहाँ के आदिवासियों पर ज़ुल्म ढाते हैं और फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में उनकी नृशंस हत्याएँ करते हैं। मतलब साफ़ है, यह 'राष्ट्रीय सुरक्षा' असल में इस देश की सम्पदा को लूटने वाले मुट्ठीभर धनपशुओं की सुरक्षा है। इसीलिए यह ज़रूरी है कि हम शिक्षा और स्वास्थ्य के मसले को इस तथाकथित सुरक्षा के बरक्स भी देखें। इतना ही नहीं, सुरक्षा के नाम पर हमें बेवक़ूफ़ बनाने वाली यह सरकार अब शिक्षा और स्वास्थ्य की रही-सही सेवाओं को भी इन्हीं धनपशुओं के हाथों में देने जा रही है।

सरकार ने बजट में कहा है कि वह टियर-2 और टियर-3 शहरों के ग़रीबों के लिए 20,000 सूचीबद्ध अस्पतालों की व्यवस्था करेगी। हालाँकि, अभी स्पष्ट नहीं है कि इन अस्पतालों में आने वाले ख़र्च का कितना हिस्सा सरकार सीधे मरीज़ों के सर पर थोपेगी, पर मान लिया जाये कि सारा ख़र्च सरकार ही उठाती है, तो वह ख़र्च कहाँ से आयेगा? स्वाभाविक है आम लोगों पर और ज़्यादा परोक्ष करों की मार बढ़ेगी, क्योंकि पूँजीपतियों के लिए तो लगातार कर घटाने की व्यवस्था की जा रही है। आख़िर अत्याधुनिक सरकारी अस्पताल क्यों नहीं खोले जा रहे हैं, जिनमें मुफ़्त इलाज की व्यवस्था हो। पर मोदी ऐसा करेंगे, तो उनके पूँजीपति यारों को जनता की बदहाली से मुनाफ़ा कूटने का मौका कैसे मिलेगा? उल्टा मोदी सरकार ने सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पीपीपी) की व्यवस्था के तहत अस्पताल बनवाने की बात की है, जिसका कुल जमाजोड़ यह है कि पहले आम अवाम के ख़ून और पसीने की कमाई से अस्पताल बनाये जायेंगे, फिर उसी अवाम की हड्डियाँ निचोड़ने के लिए उन अस्पतालों को निजी हाथों में दे दिया जायेगा।

दूसरी तरफ़ शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की तैयारी है 150 उच्च शिक्षण संस्थानों के ज़रिये अप्रेंटिसशिप एम्बेडेड कोर्स चालू करना। इसे हमें प्रशिक्षु (संशोधन) क़ानून, 2014 के और श्रम क़ानूनों में किये जा रहे तमाम बदलावों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। उक्त क़ानून के मुताबिक़ नियोक्ताओं को पूरी छूट है कि वे प्रशिक्षुओं की ट्रेनिंग अवधि पूरी होने के बाद उन्हें काम पर रखें या नहीं – इसके लिए उन्हें अपनी नीति ख़ुद बनाने की छूट दी गयी है। स्पष्ट है कि यह क़ानून महज़ इसलिए लाया गया है ताकि बेहद कम पगार पर मज़दूरों को अप्रेण्टिस के तौर पर रखा जाये और बाद में मनमाने तरीक़े से उन्हें निकाल बाहर किया जाये। सरकार के द्वारा चालू किये जा रहे ये प्रशिक्षु कोर्स पूँजीपतियों के लिए मज़दूरों के पैसों से ही सस्ते मज़दूर तैयार करने की ही क़वायद है।

सबकुछ बेचने की तैयारी

लगता है कि बजट के हर हिस्से को तैयार करते हुए निर्मला सीतारमण यही सोच रही थीं कि हरेक छोटी-मोटी चीज़ को भी कैसे निजी हाथों में सौंप दिया जाये। बजट में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के अन्तर्गत "आकांक्षी ज़िलों" में अस्पताल बनाने, पाँच स्मार्ट शहर बनाने, 150 यात्री ट्रेनें चलवाने की बात की गयी है। जैसा कि पहले भी ज़िक्र किया जा चुका है, इस मॉडल का केवल एक ही मतलब हो सकता है – सार्वजनिक पूँजी से खड़े किये गये उपक्रमों से निजी मालिकों द्वारा मुनाफ़ा वसूली।

दूसरी ओर, आईडीबीआई बैंक में सरकार ने अपनी शेष होल्डिंग को निजी, खुदरा और संस्थागत निवेशकों के हाथों बेचने का फ़ैसला किया है। साथ ही, एलआईसी में भी सरकार अपनी होल्डिंग के एक हिस्से को बेचने जा रही है। इसके लिए सरकार ने वजह बतायी है कि स्टॉक एक्सचेंज में कम्पनियों को सूचीबद्ध करने से उनमें अनुशासन आता है, वित्तीय बाज़ारों की पहुँच प्राप्त होती है और उनकी पूरी सामर्थ्य का इस्तेमाल हो पाता है। इन मक्कारी भरे शब्दों के पीछे की सच्चाई यह है कि वित्तीय पूँजी के हवाले करने का मतलब है उपक्रमों को सट्टेबाज़ पूँजी के हवाले कर देना, जहाँ क़ीमतों को आसमान से ज़मीन पर गिरने में घण्टे भी नहीं लगते। साथ ही, यह क़वायद है जनता की गाढ़ी कमाई को निजी मुनाफ़े के लिए निजी हाथों में सौंप देना।

नयी आयकर व्यवस्था : जैसे-तैसे उपभोक्ता व्यय बढ़ाने की बदहवासी

इस बार सरकार एक नयी आयकर व्यवस्था लेकर आयी है जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष करों को हर आय वर्ग के लिए पाँच-पाँच प्रतिशत कम कर दिया गया है, मगर साथ ही भविष्य निधि, शिक्षा कर्ज़ इत्यादि पर मिलने वाली छूट हटा दी गयी है। फ़िलहाल, लोगों के पास पुरानी या नयी, दोनों में से कोई भी एक व्यवस्था चुनने का विकल्प होगा। स्वाभाविक है कि यह नयी व्यवस्था उन लोगों के लिए ज़्यादा लुभावनी है जिन्होंने तमाम बचत/बीमा/कर्ज़ जैसी योजनाओं में पैसे या तो नहीं लगाये हैं या बहुत कम पैसे लगाये हैं। हालाँकि, कई विशेषज्ञों द्वारा किये गये तुलनात्मक विश्लेषण के हिसाब से यह बचत भी मामूली ही है। पर बड़ा सवाल यह है कि इस क़दम के असल मायने क्या हैं? यह असल में लोगों को पीपीएफ़ जैसी योजनाओं में पैसा लगाने से हतोत्साहित करने की क़वायद है, ताकि मन्दी से जूझ रही भारतीय अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता व्यय को बढ़ाया जा सके। यानी अर्थव्यवस्था को संकट से उबारने का एक और नीम-हकीमी नुस्खा।

पूँजीपतियों को टैक्स में भारी छूट

सरकार का कहना है कि निवेशकों को पूरी तरह से सहूलियत प्रदान करने के लिए इन्वेस्टमेंट क्लियरेंस सेल बनाया जायेगा। यानी, देश-विदेश के निवेशकों के लिए जल-जंगल-ज़मीन लूटने की प्रक्रिया में आने वाली अड़चनों को दूर किया जायेगा। बाक़ी कॉरपोरेट क्षेत्र को कर छूट तो पहले से ही दी जा रही है। निर्मला सीतारमण ने बिल पेश करते हुए बताया कि मैन्युफ़ैक्चरिंग क्षेत्र में नयी कम्पनियों के लिए टैक्स को अप्रत्याशित रूप से कम करके 15% करने का 'साहसिक ऐतिहासिक फ़ैसला' लिया गया है। मौजूदा कम्पनियों के लिए भी इसे घटाकर 22% कर दिया गया है। नयी विद्युत उत्पादन कम्पनियों के लिए भी कर को घटाकर 15% कर दिया गया है। विदेशी सरकारों द्वारा स्वायत्त धन निधि के ज़रिये 31 मार्च, 2024 तक किये जाने वाले निवेश से होने वाले फ़ायदे पर शत-प्रतिशत छूट दी गयी है, अगर लॉक-इन अवधि कम से कम तीन साल की हो। 100 करोड़ तक के टर्नओवर वाली स्टार्ट-अप कम्पनियों को भी अब 10 साल तक कोई कर नहीं देना होगा। यानी अम्बानी की जेननेक्स्ट वेंचर्स नाम की कम्पनी किसी स्टार्ट अप में 100 करोड़ तक पैसा लगाती है, तो उसको 10 साल तक उस रक़म से होने वाली आमदनी पर कोई टैक्स नहीं भरना होगा।

यह बजट एक ऐसे समय में आया है, जबकि भारत का ऑटो सेक्टर बुरी तरह मन्दी की मार झेल रहा है और लगभग 10 लाख प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नौकरियाँ दाँव पर लगी हुई हैं। ऑटो सेक्टर के ढेरों छोटे-मोटे डीलरों के धन्धे चौपट होकर बन्द हो चुके हैं। मन्दी का यह हाल ऑटो सेक्टर में कुछ ज़्यादा ही गम्भीर है, मगर ऐसा नहीं कि बाक़ी सेक्टर इससे अछूते रहे हैं। भारत में उपभोक्ता व्यय पिछले 45 सालों का रेकॉर्ड तोड़ते हुए सबसे निचले स्तर पर आ गया है। पर ग़ौर कीजिए कि जनता की इस भयंकर बदहाली के दौर में भी अर्थव्यवस्था को उबारने का पैमाना यह है कि पूँजीपतियों की गिरती हुई मुनाफ़े की दर को कैसे स्थिर किया जाये या कैसे बढ़ाया जाये। यही बदहवासी है जिसके चलते 'ढाँचागत' भूमि व श्रम सुधारों की बात की जा रही है। यहाँ पर ढाँचागत सुधारों का मतलब है मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी अकूत क़ुर्बानियों के दम पर हासिल किये गये श्रम अधिकारों को ख़त्म कर देना, जिस दिशा में सरकार निर्णायक क़दम बढ़ा चुकी है। इस फ़ासीवादी सरकार के इन "ढाँचागत" सुधारों को टक्कर देने के लिए मज़दूर वर्ग को इस पूरे समाज के ढाँचागत रूपान्तरण के प्रोजेक्ट को लेकर आगे बढ़ना होगा।

कश्मीर में 7 महीने से जारी पाबन्दियों से जनजीवन तबाह

– अनिता

कश्मीर घाटी में पूर्ण नाकेबन्दी के सात महीने पूरे हो गये हैं। 70 लाख की आबादी वाली कश्मीर घाटी में पिछले 7 महीनों में जो तबाही हुई है उसका अन्दाज़ा दूर से लगाना बहुत मुश्किल है। अभी भी वहाँ इण्टरनेट और मोबाइल सेवाएँ पूरी तरह बहाल नहीं हुई हैं। दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करने वाला भारत अब दुनिया में सबसे ज़्यादा लम्बे समय तक इण्टरनेट पर पाबन्दी लगाने वाला लोकतंत्र बन चुका है। 2G इण्टरनेट सेवा कुछ समय तक आंशिक रूप से बहाल हुई थी, लेकिन इस बहाली को भी 17 मार्च तक रोक दिया गया है। लोगों की शिकायत है कि मात्र 2G सेवा से कोई भी काम नहीं हो पायेगा। इण्टरनेट पर एक अरब से ज़्यादा वेबसाइट होने के बावजूद मात्र चौदह हज़ार वेबसाइट को एक्सेस करने की अनुमति दी जा रही है। सोशल साइटों से लेकर अन्य सभी काम की वेबसाइटों पर प्रतिबन्ध से लोग हैरान हैं। लोग वीपीएन के ज़रिये कुछ दिनों तक इण्टरनेट इस्तेमाल कर पा रहे थे, लेकिन सरकार ने वीपीएन फ़ायरवाल के ज़रिये वो रास्ता बन्द कर दिया। ऐसी भी ख़बरें आयीं कि लोगों को वीपीएन के ज़रिये सोशल मीडिया का इस्तेमाल करने पर गिरफ़्तार तक किया गया। इन सब घटनाओं से सरकार की मंशा ज़ाहिर होती है कि कैसे बिना कश्मीरी लोगों की फ़िक्र करे अपनी सत्ता थोपने पर उतारू है। कश्मीरी आवाम की ज़िन्दगी के हालात दिन-ब-दिन बद से बदतर बनते जा रहे हैं। मोबाइल सेवाएँ भी अभी पूरी तरह बहाल नहीं हुई हैं।

इन सात महीने में कश्मीर में पाबन्दियों के दौरान वहाँ के अस्पतालों में तमाम मरीज़ों ने समय पर इलाज़ न हो पाने की वजह से दम तोड़ दिया क्योंकि डॉक्टर दवाओं और इलाज सम्बन्धी राय मशविरा के लिए इण्टरनेट पर निर्भर रहते हैं। तमाम कश्मीरी बच्चे स्कूल जाने को तरस गये और युवा अपने भविष्य के लिए रोज़गार और उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए कहीं बाहर आवेदन नहीं कर पाये। एक अनुमान के मुताबिक़ क़रीब एक लाख पचास हज़ार युवाओं को आई.टी. क्षेत्र से सम्बन्धित रोज़गार खोना पड़ा। विश्वविद्धालय के छात्र-छात्राओं और रिसर्च स्कॉलर्स को छात्रावृत्ति फ़ॉर्म भरवाने और रिसर्च करने के मार्ग ही बन्द हो गये हैं। पढ़ाई में ज़रूरी सूचना के अभाव में विद्धार्थियों की परिक्षा प्रभावित हुई। पत्रकारों के पास करने को कुछ काम नहीं रहा तो वे अपना पेट भरने के लिए दिहाड़ी मज़दूरी करने को मजबूर हो गये। अच्छे दिन और विकास के नारे देनेवाली भाजपा सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 को हटाने के निर्णय के बाद कश्मीर में मात्र आई.टी. क्षेत्र में 450 से 500 करोड़ की क्षति हुई। और कश्मीरी चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स के अनुसार नाकेबन्दी की वजह से कश्मीर की अर्थव्यवस्था में पाँच महीने में 1.78 लाख करोड़ की क्षति हुई।

कश्मीर को महज़ ज़मीन का एक टुकड़ा समझने वाली केन्द्र सरकार के लिए यह तथ्य कोई मायने नहीं रखता कि कश्मीर के हर एक इन्सान के लिए एक-एक पल कितना यातनाप्रद और ख़ौफ़नाक है। कश्मीरी अर्थव्यवस्था की नींव पर्यटन उद्योग बर्बादी के कगार पर खड़ा है क्योंकि पिछले सात महीने में वहाँ पर्यटकों का आना बिल्कुल बन्द हो गया है। तमाम होटल, हाउस बोट और बाज़ार ख़ाली पड़े हैं। होटल कर्मियों, टूरिस्ट गाइड, हस्तशिल्पियों और कारीगरों का गुजरबसर करना मुश्किल हो गया है। सेब से होनेवाली आय में भी भारी गिरावट आ रही है। जब सेब की फ़सल तैयार थी उसी समय भारी मात्रा में हुई सैनिक तैनाती के डर से लोग फ़सल को सुरक्षित नहीं कर पाये जिससे बहुत ज़्यादा नुक़सान हुआ। इसी तरह अखरोट की फ़सल भी प्रभावित हुई। इण्टरनेट की पाबन्दी के चलते आई.टी. उद्योग पूरी तरह तबाह हो गया। ईकॉर्मस के ज़रिये छोटे व्यवसाय कर रहे तमाम लोगों के सामने वजूद का संकट पैदा हो गया।

कहने को तो कश्मीर घाटी में सुरक्षा के मद्देनज़र 7 लाख सैनिक तैनात हैं, लेकिन अर्थव्यवस्था के ठप हो जाने की वजह से वहाँ लोगों की ज़िन्दगी पहले से ज़्यादा असुरक्षित होती जा रही है। तमाम लोग इन अभाव और भय की माहौल की वजह से अवसाद और मानसिक रोगों के शिकार हो रहे हैं। कई लाख लोग बेरोज़गार बन गये जिनको रोज़ी-रोटी के लिए दर-दर भटकना पड़ रहा है। केवल कश्मीरी ही नहीं, कश्मीर घाटी में यूपी-बिहार से गये लाखों मज़दूर वापस लौटने को बाध्य हो गये। उनकी भी रोज़ी-रोटी छिन गयी। ग़रीब और मेहनतकश कश्मीरी और रोज़गार के सिलसिले में कश्मीर में मौजूद हरेक इन्सान का जीवन तबाह हो रहा है। इस दौरान 2000 से अधिक लोगों को गिरफ़्तार करके डिटेन्शन सेन्टर में डाला गया और तीन पूर्व मुख्यमंत्रियों सहित लगभग सभी प्रमुख कश्मीरी नेताओं को गिरफ़्तार या नज़रबन्द किया गया है। कश्मीर के हालात इतने ख़राब हो चुके हैं कि वहाँ चुनाव आयोग पंचायत के बाई-इलेक्शन तक नहीं करवा पा रहा है।

अन्तरराष्टीय स्तर पर अब तक भारत कश्मीर को अपना आन्तरिक मसला कहकर बहस से बचता आया है। लेकिन कश्मीर की अभूतपूर्व नाकेबन्दी के बाद भारत सरकार के निरंकुश क़दम के ख़िलाफ़ अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी आवाज़ें उठने लगी हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद में कश्मीर मसले पर दो बार बहस हो चुकी है। इसी तरह अमेरिका की संसद में भी सरकार के निर्णय का विरोध किया गया। सरकार कश्मीर में सबकुछ सामान्य होने का कितना भी दावा करे लेकिन उसकी ख़ुद की कारगुज़ारियाँ चीख़-चीख़कर कश्मीर के दर्दनाक हालात बयान कर रही हैं। घाटी में सुरक्षा बलों और केन्द्र सरकार की ज़्यादती के साथ ही कश्मीरी आवाम में भारत से अलगाव की भावना भी बढ़ती चली आ रही है। इतने लम्बे समय तक इण्टरनेट और मोबाइल पर पाबन्दी लगाने के पीछे सरकार की मंशा यह है कि इससे आज़ादी के विचार फैलना थम जायेंगे क्योंकि ये विचार सोशल मीडिया और व्हाट्सऐप के ज़रिये लोगों के बीच तेज़ी से फैल रहे थे। लेकिन विचार रोकने के इस निरंकुश तरीक़े से लोगों के अन्दर पहले से भी ज़्यादा नाराज़गी और ग़ुस्सा पल रहा है। प्रचार किया जा रहा है कि अब कश्मीर पूर्णतः भारत के अधीन आ गया, लेकिन सच्चाई तो यह है कि कश्मीरियों का भारत से अलगाव पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ गया है और उन्हें भारत से जोड़ने के सभी रास्ते सरकार ख़ुद ही बन्द कर रही है। सरकार कितना भी दावा कर ले, कश्मीर में हालात तब तक सामान्य नहीं हो पायेंगे जब तक कि कश्मीरी जनता को सुना और समझा नहीं जायेगा।

लखनऊ में डिफ़ेंस एक्सपो : मुनाफ़े की हवस में युद्धोन्माद फैलाने का तामझाम

– अनुपम

बीती 5 फ़रवरी से 9 फ़रवरी तक लखनऊ शहर में डिफ़ेंस एक्सपो आयोजित किया गया जिसको मीडिया ने हाथों-हाथ लिया। हथियार बेचने की होड़ में लगे रक्षा क्षेत्र के पूँजीपतियों को रिझाने के लिए भारत सरकार की ओर से आयोजित इस प्रदर्शनी के शुरू होने से पहले ही शहर के मेट्रो स्टेशनों और चौराहों पर मोदी-राजनाथ के फ़ोटो लगे बड़े-बड़े होर्डिंग लगने शुरू हो गये थे। मीडिया में इसे एशिया की सबसे बड़ी रक्षा प्रदर्शनी कहकर आम जनता को इसके फ़ायदे बताये गये। आसमान में उड़ते लड़ाकू जहाज़ों, ड्रोनों, तोपों और मशीनगनों का प्रदर्शन करते हुए युद्धोन्माद और राष्ट्रभक्ति की बयार चलायी गयी, ताकि जनता इस एक्सपो से होने वाली परेशानियों को भूलकर राष्ट्र के विकास की इस मुहिम का भरपूर समर्थन करे। लेकिन इस युद्धोन्माद और राष्ट्रवाद की आँधी में बहने की बजाय ज़रूरत यह समझने की है कि जनता की जेब काटकर की गयी इस बेहद ख़र्चीली नौटंकी से आम जनता का क्या भला होने वाला है।

इस एक्सपो के बहाने 'मेक इन इण्डिया' के फुस्स हो चुके गुब्बारे में भी फिर से हवा भरने की कोशिश की गयी और भारत को रक्षा क्षेत्र का मैन्युफ़ैक्चरिंग हब बनाने के हवाई किले बनाये गये। इस एक्सपो में 1000 से भी ज़्यादा रक्षा कम्पनियाँ आयीं और 200 से भी ज़्यादा एमओयू पर दस्तख़त किये गये। यानी अब रक्षाक्षेत्र की ये विदेशी कम्पनियाँ भारत में रक्षा उत्पादों के निर्माण के लिए भारत सरकार और भारतीय कम्पनियों के सहयोग से काम करेंगी। हमें बताया गया कि इस प्रक्रिया में जो उपक्रम खड़े होंगे उससे नये रोज़गार पैदा होंगे और इससे देश रक्षा निर्माण में आत्मनिर्भर हो जायेगा। अव्वलन तो इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि इस बेहद ख़र्चीले तामझाम की बदौलत रोज़गार के कितने अवसर पैदा होंगे, लेकिन अगर सरकार के दावे को सच मान भी लिया जाये तो यह सवाल उठता है कि क्या सरकार यह मान चुकी है कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में रोज़गार पैदा नहीं किये जा सकते, इसलिए अब युद्ध और नरसंहार को बढ़ावा देने वाले क्षेत्र पर निर्भर होने के अलावा और कोई चारा नहीं है?

असलियत तो यह है कि मौजूदा दौर में पूरी दुनिया में मन्दी का आलम है और पूँजीवाद के तमाम नीमहकीमों द्वारा सुझाये गये नुस्खों पर अमल करने के बावजूद मन्दी से उबरने के आसार दूर-दूर तक नज़र नहीं आ रहे हैं। दुकानों में माल पटे हुए है लेकिन ख़रीदने वाले लोग ही नहीं हैं। बढ़ती बेरोज़गारी और कम मज़दूरी के चलते लोगों की जेब में पैसा नहीं है। पूँजीवाद में मुनाफ़े के इस संकट का समाधान बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों के विनाश के ज़रिये ही होता आया है। मुनाफ़े की होड़ से उपजे संकट की परिणति दो विश्वयुद्धों और अनगिनत क्षेत्रीय युद्धों में हुई है। दुनियाभर में अशान्ति फैलाकर मौत के सौदागर रक्षा क्षेत्र के एकाधिकारी घराने अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की कोशिश में लगातार लगे रहते हैं। ये घराने और रक्षा क्षेत्र के दलाल विभिन्न देशों की सरकारों और राजनेताओं से साँठगाँठ करके डिफ़ेंस एक्सपो जैसे कार्यक्रम आयोजित कराते हैं ताकि उनके उत्पादों के लिए बाज़ार तैयार होता रहे।

लखनऊ में डिफ़ेंस एक्सपो के दौरान रक्षामंत्री राजनाथ ने कहा कि भारत रक्षा उत्पादों के मामले में लम्बे समय तक आयात पर निर्भर नहीं रह सकता। इसी बहाने भारत के 2024 तक विश्व की महाशक्ति बनने का जुमला भी फेंका गया। रक्षा क्षेत्र में मैन्युफ़ैक्चरिंग हब बनाने के सब्ज़बाग़ भी दिखाये गये। बात की गयी कि इस एक्सपो का उद्देश्य देश को सुदृढ़, सशक्त और समृद्ध बनाना है। लेकिन सवाल यह उठता है कि जिस देश में हज़ारों बच्चे रोज़ भूख, कुपोषण और छोटी-छोटी बीमारियों से मर जाते हैं, जहाँ आधी से ज़्यादा महिलाएँ ख़ून की कमी की शिकार हैं उसे हथियारों के निर्माण का केन्द्र बनाने की हसरत करना अपने आप में एक भद्दा मज़ाक़ नहीं है तो और क्या है? क्या लड़ाकू विमानो, तोपों, रडारों, ड्रोनों और मशीनगनों से इस देश की आबादी का पेट भर सकेगा?

'बच्चों का कारख़ाना'

पूँजीवाद अपने जन्मकाल से ही हर चीज़ को बिकाऊ माल में तब्दील करने की फ़िराक में रहता है। इंसानी रिश्ते-नाते और भावनाएँ तक ख़रीदफ़रोख़्त की चीज़ बन जाती हैं। लेकिन अब मुनाफ़े की अन्धी हवस में पूँजीवाद इतना गिर चुका है कि वह बच्चा पैदा करने की एक फ़ैक्टरी तक खोलने लगा है जिसमें महिलाओं और बच्चों की ख़रीदफ़रोख़्त होती है। नाइजीरिया के दक्षिणी-पश्चिमी राज्य आगन में ऐसी ही एक 'बेबी फैक्ट्री' हाल में पकड़ी गयी। वहाँ एक प्राइवेट मेडिकल क्लीनिक पर छापा मारकर जब पुलिस ने 13 लोगों को मुक्त कराया, तब यह घटना सामने आयी। इनमें 6 गर्भवती औरतें और एक बच्चा भी था।

बेहद ग़रीबी की शिकार कुछ गर्भवती स्त्रियाँ यहाँ अपने बच्चों को बेचने के लिए पेश करती थीं जिन्हें पैसेवाले नि:सन्तान लोग ख़रीद कर ले जाते थे। मगर अनेक स्त्रियों को यहाँ पर उनकी इच्छा के विरुद्ध बन्धक बनाकर रखा जाता था। उनको गर्भवती करने के लिए पुरुष किराये पर लिये जाते थे और उन महिलाओं का बलात्कार किया जाता था। बाद में उनके बच्चे अमीरों को ऊँचे दामों पर बेच दिये जाते थे।

इस तरह के घिनौने कारोबार सिर्फ़ अफ्रीका में ही नहीं होते। औरतों और बच्चों की ख़रीदफ़रोख़्त के क़िस्म-क़िस्म के तरीके दुनियाभर में देखे जा सकते हैं। ऐसे कारोबारों से एक बार फिर साबित होता है कि अब पूँजीवाद का एक-एक दिन मनुष्यता पर बोझ होता जा रहा है। जो व्यवस्था मुनाफ़े की सनक में स्त्रियों की कोख और बच्चों तक को माल में तब्दील करने में संकोच नहीं करती उससे कोई उम्मीद करना हद दर्जे का भोलापन या बेवकूफ़ी होगी। ऐसी व्यवस्था को मौत की नींद सुलाकर ही आने वाली पीढ़ियों की बेहतर ज़िन्दगी की कल्पना की जा सकती है।

– गीतिका

दिल्ली विधानसभा चुनाव में फिर आम आदमी पार्टी की जीत के मायने : मज़दूर वर्गीय नज़रिया

– अभिनव

दिल्ली विधानसभा चुनावों में अरविन्द केजरीवाल की अगुवाई वाली आम आदमी पार्टी को भारी जीत हासिल हुई। इसमें आम आदमी पार्टी द्वारा मुफ़्त बिजली-पानी आदि का निश्चित तौर पर एक योगदान है। लेकिन आम आदमी पार्टी की लहर के पीछे अन्य कई राजनीतिक और आर्थिक कारण मौजूद हैं, जिन र हम आगे चर्चा करेंगे। चुनाव के तुरन्त बाद दिल्ली में राज्य-प्रायोजित हिंसा का जो बर्बर नंगा नाच हुआ, उसके दौरान केजरीवाल की पार्टी और सरकार की शर्मनाक भूमिका को भी इससे समझा जा सकता है।

जिन्होंने भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी के पूरे चुनाव अभियान को क़रीबी से देखा है, वह अच्छी तरह जानते हैं कि भाजपा के हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद के एजेण्डे के बरक्स, अरविन्द केजरीवाल ने कोई सही मायनों में सेक्युलर, जनवादी और प्रगतिशील एजेण्डा नहीं रखा था। उल्टे केजरीवाल ने 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' का कार्ड खेला। अपने आपको हिन्दू, हनुमान-भक्त आदि साबित करने में केजरीवाल ने कोई कसर नहीं छोड़ी। साथ ही, कश्मीर में 370 हटाने पर मोदी को बधाई देने से लेकर, जामिया और जेएनयू पर हुए पुलिसिया अत्याचार और शाहीन बाग़ और सीएए-एनआरसी-एनपीआर जैसे सबसे ज्वलन्त और व्यापक मेहनतकश आबादी को प्रभावित करने वाले प्रमुख मसलों के सवाल पर चुप्पी साधे रहने तक, केजरीवाल और आम आदमी पार्टी ने मोदी-शाह-नीत भाजपा के कोर एजेण्डा से किनारा काटकर निकल लेने की रणनीति अपनायी। तात्कालिक तौर पर, इस रणनीति का फ़ायदा आम आदमी पार्टी को मिला। लेकिन ऐसी रणनीति दूरगामी तौर पर हमेशा ही हिन्दुत्ववादी एजेण्डे को ही फ़ायदा पहुँचाती है, क्योंकि अन्ततः यह हिन्दुत्व के एजेण्डा को ही वैध ठहराती है, या उसे स्वीकार्य बनाती है। कांग्रेस ने एक अलग तरीक़े से 'नर्म हिन्दुत्व' की लाइन अपनायी थी। कांग्रेस को भी इसका तात्कालिक लाभ मिला था। लेकिन किसी भी ब्राण्ड का 'साफ़्ट हिन्दुत्व' अन्त में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद को ही लाभ पहुँचाता है, यह 1980 के दशक का मध्य आते-आते स्पष्ट हो चुका था। केजरीवाल और 'आप' द्वारा 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' की लाइन अपनाने का भी अन्तिम नतीजा यही होना था।

आम आदमी पार्टी की दक्षिणपन्थी लोकरंजक और अवसरवादी रणनीति

चुनाव में आम आदमी पार्टी के नारे बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं। मिसाल के तौर पर, इस नारे पर ग़ौर करें: 'दिल्ली में तो केजरीवाल'। जो भी हिन्दी भाषा में 'तो' के प्रयोग से वाक़िफ़ हैं, वे इस व्याकरणिक तौर पर अधूरे नारे को पूरा कर सकते हैं, इस प्रकार से: 'दिल्ली में तो केजरीवाल, देश में मोदी'। आम आदमी पार्टी और भाजपा के ही कुछ ग्रासरूट समर्थकों ने अपने-अपने इलाक़े में इस नारे को इसी प्रकार से पूरा कर भी दिया! दिल्ली के कई इलाक़ों में ऐसे पोस्टर देखे जा सकते थे जो कि देश में मोदी की और दिल्ली में केजरीवाल के नारे की हिमायत कर रहे थे। यह अनायास नहीं था, बल्कि यह आम आदमी पार्टी की राजनीतिक रणनीति का ही लाज़िमी नतीजा था।

शाहीन बाग़ और सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर 'आप' का स्टैण्ड

शाहीन बाग़ से शुरू हुए ऐतिहासिक आन्दोलन पर भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी ने मौक़ापरस्त पोज़ीशन अपनायी। शुरुआत में दबे स्वर में सीएए का विरोध किया गया और शाहीन बाग़ का दबे स्वर में समर्थन किया गया, या फिर सरकार से शाहीन बाग़ के प्रदर्शनकारियों से संवाद करने की गुहार लगायी गयी। लेकिन जैसे-जैसे भाजपा अपने साम्प्रदायिक एजेण्डा पर अधिक से अधिक आक्रामक होती गयी, वैसे-वैसे आम आदमी पार्टी ने पहले चुप्पी की रणनीति अपनायी और फिर यहाँ तक पहुँच गयी कि केजरीवाल ने यह शर्मनाक बयान दिया कि अगर दिल्ली पुलिस उसके हाथ में होती तो वह दो घण्टे में शाहीन बाग़ के प्रदर्शन को उठवा देता।

'आप' और केजरीवाल की राजनीति का मज़दूर-विरोधी और निम्न-पूँजीवादी चरित्र

स्पष्ट है कि केजरीवाल ने मोदी द्वारा श्रम क़ानूनों में संशोधन यानी 'बचे-खुचे श्रम क़ानूनों की हत्या' पर कभी मुँह नहीं खोला। दिल्ली में हर वर्ष न्यूनतम मज़दूरी ज़रूर बढ़ायी गयी, लेकिन सिर्फ़ इसलिए क्योंकि यह कहीं लागू ही नहीं होती है! ख़ुद आम आदमी पार्टी के कारख़ानेदार नेता जैसे कि गिरीश सोनी, राजेश गुप्ता आदि अपने और अपने रिश्तेदारों के कारख़ानों में न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, सुरक्षा उपकरणों, साप्ताहिक छुट्टी आदि के श्रम क़ानूनों का खुलेआम उल्लंघन करते हैं। ज़ाहिर है, जब केजरीवाल ने यह कहा था कि उनकी नस-नस में ख़ून के रूप में 'धंधा' दौड़ रहा है और पूँजीपतियों को उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो इसका यही मतलब था कि अगर दिल्ली में आम आदमी पार्टी की सरकार बनी तो श्रम क़ानूनों, कारख़ाना क़ानूनों से मुक्ति और साथ ही आयकर विभाग के छापों से मुक्ति।

दिल्ली छोटे पूँजीपतियों (औद्योगिक और व्यापारिक) का शहर है। दिल्ली में केजरीवाल की सफलता का एक प्रमुख कारण यह है कि दिल्ली के छोटे और मँझोले कारख़ाना-मालिकों, ठेकेदारों, बिचौलियों, दुकानदारों ने अपना पाला भाजपा से बदलकर आम आदमी पार्टी को अपना समर्थन दे दिया। बड़े पूँजीपतियों से भी आम आदमी पार्टी की कोई दुश्मनी नहीं है। यही कारण है कि उसे भारती मित्तल और टाटा से, सत्या इलेक्टोरल ट्रस्ट से काफ़ी बड़ा चुनावी चन्दा मिलता है। इसका एक कारण यह भी है कि दिल्ली में विद्युत वितरण का जो निजीकरण कांग्रेस सरकार ने किया था उसे केजरीवाल सरकार ने क़ायम रखा है और बिजली के बिल पर जो सब्सिडी वह दे रही है, उससे टाटा और अम्बानी को कोई नुक्सान नहीं है। उल्टे यह सब्सिडी सरकारी ख़ज़ाने से दी जा रही है जो कि जनता टैक्सों से ही आता है। कुल मिलाकर जनता के लिए इसका मतलब एक हाथ से चवन्नी देना और दूसरे हाथ से चवन्नी लेना ही है। हालाँकि तात्कालिक तौर पर लोगों को इससे राहत महसूस होती है और इस अहसास को आम आदमी पार्टी को चुनावों में लाज़िमी तौर पर फ़ायदा पहुँचा है।

लुब्बेलुआब यह कि केजरीवाल और आम आदमी पार्टी की रणनीति के तीन बुनियादी पहलू ऐसे हैं, जो कि उसके राजनीतिक वर्ग चरित्र को काफ़ी हद तक उजागर कर देते हैं: पहला, मोदी-शाह और संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद से सीधे टक्कर मोल न लेना या उसकी साफ़ शब्दों में मुख़ालफ़त न करना; दूसरा, पूँजी-परस्त नीतियों के मामले में मोदी को पूरा समर्थन देना; और तीसरा, अन्धराष्ट्रवाद के एजेण्डा पर भाजपा का विरोध न करना, उल्टा, अन्धराष्ट्रवाद का अपना एक अलग ब्राण्ड पेश करना। इन तथ्यों के आधार पर ही हम आम आदमी पार्टी की विचारधारा और राजनीति के चरित्र को भी समझ सकते हैं।

'आप' की दक्षिणपन्थी अवसरवादी और व्यवहारवादी विचारधारा

आम आदमी पार्टी की विचारधारा वास्तव में प्रतिक्रियावादी अवसरवाद और व्यवहारवाद की टटपुँजिया विचारधारा है। इस विचारधारा का दावा यह है कि विचारधारा जैसी कोई चीज़ नहीं होती! यानी किसी भी चीज़ का कोई आम सिद्धान्त नहीं होता है। लेकिन जैसा कि पिछला वाक्य पढ़कर समझदार लोग समझ गये होंगे, यह कहना कि 'कोई आम सिद्धान्त नहीं होता है' स्वयं एक आम सिद्धान्त ही है, एक सामान्यीकरण ही है।

केजरीवाल और आम आदमी पार्टी के नेताओं को अक्सर यह कहते सुना जा सकता है कि वह 'लेफ़्ट' या 'राइट' में यक़ीन नहीं करते! वह बस 'मुद्दों की राजनीति' करते हैं! यह खोखला दावा है। कारण यह कि मुद्दों का आपका चुनाव और उन चुने गये मुद्दों पर आपका रवैया आपके आम नज़रिये या विश्व-दृष्टि से तय होता है। यही कारण है कि आम आदमी पार्टी ने राष्ट्रवाद, धर्म, साम्प्रदायिकता, आदि पर जो रवैया अपनाया है, वह वास्तव में दक्षिणपन्थी रवैया है।

'आम आदमी पार्टी' के लिए भ्रष्टाचार का अर्थ केवल सरकारी कर्मचारियों और चुनावबाज़ नेताओं द्वारा ली जाने वाली रिश्वत और उनके घपलों तक सीमित है। संविधानसम्मत और विधिसम्मत भ्रष्टाचार को केजरीवाल और आम आदमी पार्टी सदाचार की श्रेणी में ही रखते हैं। मिसाल के तौर पर, श्रमशक्ति का शोषण और मुनाफ़े का अधिग्रहण भ्रष्टाचार में नहीं आता है। यहाँ तक कि अगर निजी उद्यमी (पूँजीपति) भ्रष्टचार करे तो उस पर केजरीवाल और आम आदमी पार्टी की आँखें बन्द रहती हैं, केजरीवाल को पूँजीपतियों के लिए जूनियर मोदी बनकर 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' भी तो देना है। 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस': ज़रा इस वाक्यांश के अर्थ के बारे में सोचिए! 'बिज़नेस' का अर्थ ही होता है श्रमशक्ति के शोषण के आधार पर मुनाफ़ा निचोड़ना; 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' का अर्थ है कि श्रमशक्ति के शोषण के ज़रिये मुनाफ़ा पीटने की राह में सारी बाधाओं को हटाना। इसमें 'वन विण्डो क्लियरेंस', पूँजीपतियों द्वारा स्वप्रमाणीकरण की व्यवस्था आदि जैसी नीतियों के अलावा मुख्य होता है श्रम क़ानूनों से छुटकारा। पूँजीपतियों की यह सेवा करने में केजरीवाल कहीं भी मोदी से पीछे नहीं है और कुछ पूँजीपति तो केजरीवाल मॉडल को बेहतर मानते हैं कि क्योंकि वह यह सेवा प्रदान करने में कोई भ्रष्टाचार नहीं करता!

भ्रष्टाचार-रहित प्रशासन से केजरीवाल और 'आप' का अर्थ है पूँजीपति वर्ग और ज़्यादा से ज़्यादा मध्य वर्ग के लिए भ्रष्टाचार से मुक्ति, वह भी तब यदि हम भ्रष्टाचार का अर्थ केवल रिश्वतखोरी और घपले के निहायत सीमित अर्थों में लें। लेकिन मज़दूरों को प्रशासन द्वारा तमाम क़ानूनी अधिकारों से वंचित किया जाना केजरीवाल और 'आप' के भ्रष्टाचार की परिभाषा में नहीं आता है। वह तो 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' है और भाजपा के समान 'आप' का भी मानना है कि समाज में समृद्धि पैदा करने वाला वर्ग तो पूँजीपति वर्ग है और उस पर कोई बोझ नहीं पड़ना चाहिए। वह तो मालिक है, वही तो रोज़गार देता है! इसलिए इस रोज़गार-दाता, उद्यमी और समृद्धिजनक वर्ग पर कोई बोझ नहीं पड़ना चाहिए और उसे श्रम क़ानूनों के स्पीडब्रेकरों से पूरी मुक्ति मिलनी चाहिए ताकि 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' मिल सके। इसलिए श्रम क़ानूनों का दिल्ली में खुल्लेआम और अन्धाधुन्ध उल्लंघन कोई भ्रष्टाचार नहीं है! मिसाल के तौर पर, यदि कारख़ानेदार श्रम क़ानूनों को लागू न करें, दुकानदार बिक्री कर व आयकर की चोरी करें, क़ानूनों को लागू न करें तो वह भ्रष्टाचार नहीं बल्कि उद्यमिता की श्रेणी में आता है! इसलिए 'आप' की तथाकथित वर्गेतर सोच के पीछे विशेष तौर पर छोटे मालिकों और आम तौर पर पूँजीपति वर्ग का हित और उनका वर्ग नज़रिया ही मौजूद है। यही कारण है कि दिल्ली में औद्योगिक दुर्घटनाओं में मज़दूरों की बढ़ती मौतों पर केजरीवाल चुप है; श्रम क़ानूनों के संशोधन पर वह चुप है; ठेका प्रथा के उन्मूलन के अपने शुरुआती वायदे पर अमल से मुकर जाने के मामले में केजरीवाल चुप है।

विचारधारात्मक तौर पर, जब कोई पार्टी या नेता कोई विचारधारा न रखने का दावा करता है, तो आप मानकर चल सकते हैं कि वह उसी विचारधारा का हामी है, जो कि शासक वर्गों की विचारधारा है। यह एक विचारधारात्मक अवसरवाद है। यह केजरीवाल और 'आप' को यह लचीलापन प्रदान करता है कि वह विभिन्न मसलों पर कभी कोई तो कभी कोई अवस्थिति अपना सकते हैं। मिसाल के तौर पर, सीएए-एनआरसी के मसले पर भी इनका सुर इसी प्रकार बदला है।

'आप' की दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति

इनका प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद 'जब जो कारगर हो, उसे लागू करो' के नारे पर काम करता है। यह दीगर बात है कि आम तौर पर लम्बी दूरी में पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में 'कारगर' और 'सुविधाजनक' वही होता है, जो कि पूँजीपति वर्ग के हित में हो। यही विचारधारा केजरीवाल की राजनीति के चरित्र को निर्धारित करती है।

पिछले पाँच वर्षों के केजरीवाल के शासन में यह बात स्पष्ट तौर पर दिखलाई भी पड़ती है। जब केजरीवाल ने राजनीति में प्रवेश किया था, तो उसे मज़दूर वर्ग के वोटों की ज़रूरत थी। इसलिए उसने वायदा किया कि सरकार बनने पर वह दिल्ली से ठेका प्रथा को समाप्त करेगा, 55 हज़ार ख़ाली पदों को भरेगा, आदि। लेकिन 49 दिनों की सरकार में जब मज़दूर वर्ग के राजनीतिक रूप से सचेत हिस्से ने इन वायदों को पूरा करने के लिए उसके ऊपर दबाव बनाया तो वह मुख्यमंत्री के काँटों के ताज को उतारकर बहाने बनाते हुए भाग गया। लेकिन इस बीच उसने दिल्ली के टटपुँजिया और अर्द्धसर्वहारा वर्गों में अपनी पकड़ बनायी। इसके लिए कई पैंतरों का इस्तेमाल किया गया। इसमें अपने विधायकों के ज़रिये झुग्गीवासियों के राशन कार्ड, जाति पहचान पत्र, वोटर कार्ड आदि बनवाने में मदद करवाना, रियायती दरों पर पानी, बिजली आदि देना, झुग्गी गिराने आदि की कार्रवाइयों पर आंशिक रूप से रोक लगाना आदि शामिल था। चूँकि भाजपा और कांग्रेस की सरकारों के विधायक इस हद तक भी आम निम्न मध्यवर्गीय जनता की पहुँच में नहीं रहते थे, इसलिए निम्न मध्यवर्ग के लोगों के बीच इस चीज़ ने 'आप' का एक आधार तैयार किया। पहले 49 दिनों में ही दिल्ली के व्यापारियों को सेल्स टैक्स व इनकम टैक्स विभाग के छापों से केजरीवाल सरकार ने छुटकारा दिला

(पेज 8 पर जारी)

आम आदमी पार्टी की जीत के मायने : मज़दूर वर्गीय नज़रिया

(पेज 7 से आगे)

दिया था। इसके कारण, दिल्ली के छोटे पूँजीपति वर्ग के एक बड़े हिस्से ने आम आदमी पार्टी का समर्थन शुरू कर दिया था। लेकिन अगले चुनावों के प्रचार में केजरीवाल ने मज़दूरों से पिछली बार किया ठेका प्रथा समाप्त करने का वायदा गोल कर दिया! अब केजरीवाल सरकार के तथाकथित 'एक्शन प्लान' से मज़दूरों के मसले ग़ायब थे। यह सच है कि राजनीतिक चेतना की कमी के कारण और कुछ सुधारों से आंशिक लाभ मिलने के कारण दिल्ली के मज़दूरों के एक बड़े हिस्से ने फिर भी केजरीवाल को ही वोट दिया। लेकिन पिछले पाँच वर्षों में केजरीवाल की राजनीति और शब्दावली में मज़दूर वर्ग से जुड़े बचे-खुचे सन्दर्भ भी ग़ायब हो गये। दिल्ली के पूँजीपति वर्ग के समर्थन को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक था। आम आदमी पार्टी का नेतृत्व यह भी जानता था कि मज़दूरों और ग़रीबों के बीच भाजपा और मोदी बुरी तरह से अलोकप्रिय हो चुके हैं और कांग्रेस उनके बीच अपनी विश्वसनीयता पहले ही गँवा चुकी है। ऐसे में, यदि वह मज़दूरों के मसलों को अपने एजेण्डा से ग़ायब भी कर दे, तो भी ज़्यादातर मज़दूर उसी को वोट देंगे। इस स्थिति का फ़ायदा केजरीवाल को मौजूदा चुनावों में भी मिला है। हालाँकि केजरीवाल सरकार शुरू से ही यूनियन विरोधी रही है, चाहे वह अस्पताल कर्मचारियों की हड़ताल रही हो या फिर आँगनबाड़ीकर्मियों की हड़ताल या फिर औद्योगिक मज़दूरों की हड़तालें और आन्दोलन।

जहाँ तक धार्मिक अल्पसंख्यकों की बात है, तो मोदी-शाह और संघ परिवार की विजय को रोकने के लिए उनके पास दिल्ली में और कोई विकल्प नहीं था। यह बात भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी का नेतृत्व अच्छी तरह से समझते हैं। वस्तुत:, पिछले चुनावों के समय एक फ़ोन कॉल की रिकॉर्डिंग सामने आयी थी, जिसमें केजरीवाल साफ़ शब्दों में यह कह भी रहा था कि उसे चुनावों में मुसलमानों को टिकट देने की कोई मजबूरी नहीं है। उल्टे मुसलमानों के पास भाजपा का कोई विकल्प दिल्ली में मौजूद नहीं है, इसलिए वे आम आदमी पार्टी को ही वोट देंगे। इसलिए यह भी स्पष्ट है कि केजरीवाल और आम आदमी पार्टी धार्मिक अल्पसंख्यकों के कोई शुभचिन्तक नहीं हैं। उन्हें विकल्पहीनता का लाभ मिला है। तय ही था कि मौक़ा पड़ने पर यदि 'आप' को अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ कोई कट्टरतावादी पोज़ीशन अपनानी पड़ी, तो वह हिचकेगी नहीं। चुनाव के कुछ ही दिन बाद केजरीवाल और 'आप' ने खुलकर इसे साबित कर दिया।

केजरीवाल और 'आप' की राजनीति इसी दक्षिणपन्थी अवसरवाद और व्यवहारवाद की विचारधारा पर आधारित है। यह विचारधारा दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद के रूप में सामने आती है। यह लोकरंजकतावाद 'आप' सरकार की कुछ असली और कुछ दिखावटी कल्याणकारी नीतियों में सामने आता है। इन कल्याणकारी नीतियों के एक हिस्से का लाभ आंशिक तौर पर समूची आम जनता को मिलता है। बाक़ी दिखावटी हैं, हालाँकि उन्हें मॉडल के तौर पर पेश करने का काम 'आप' ने कुशलता से किया है। मिसाल के तौर पर, शिक्षा के क्षेत्र में किये गये कुछ कार्य। कुछ स्कूलों को वाक़ई सुविधासम्पन्न बनाया गया है और उन्हें मॉडल स्कूलों के तौर पर बनाने का प्रयास किया गया है। लेकिन अभी भी दिल्ली में दस में से नौ राजकीय स्कूलों की हालत दयनीय है। लेकिन चन्देक मॉडल स्कूलों का 'आप' सरकार ने कुशलता के साथ प्रचार किया है। लोग यह भी भूल गये हैं कि मूल वायदा तो 500 नये स्कूल और 20 नये कॉलेज बनाने का था, जिनमें से एक भी वायदा पूरा नहीं किया गया। कुछ का लाभ आम जनता के एक हिस्से को एक हद तक मिला है, हालाँकि लम्बी दूरी में उन योजनाओं का ख़र्च भी जनता से ही वसूला जायेगा और किसी भी रूप में पूँजीपति वर्ग पर उसका बोझ नहीं पड़ने दिया जायेगा।

'आप' का सामाजिक व राजनीतिक वर्ग आधार

हम वर्ग आधार की दो अर्थों में बात कर सकते हैं: सामाजिक रूप से और राजनीतिक रूप से। 'आप' का राजनीतिक वर्ग आधार दिल्ली में पूँजीपति वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग है (जिसमें छोटे उद्यमी और मध्य व उच्च मध्य वर्ग के तमाम तबके शामिल हैं)। राजनीतिक रूप से वर्ग आधार होने का अर्थ है कि ये वर्ग अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत हैं और इस बात को समझकर 'आप' का समर्थन करते हैं कि 'आप' उनके वर्ग हितों की सेवा करती है। इन वर्गों का 'आप' को समर्थन एक विकल्पहीनता की स्थिति में दिया गया नकारात्मक समर्थन या फिर राजनीतिक वर्ग चेतना के अभाव में दिया गया समर्थन नहीं है। यह राजनीतिक वर्ग हितों की स्पष्ट समझदारी के आधार पर दिया गया सोचा-समझा राजनीतिक समर्थन है। यह 'आप' का राजनीतिक (व सामाजिक) वर्ग आधार है।

अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निम्नतम तबकों के लिए यह बात लागू नहीं होती है। वह अपने ही राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति मूलत: और मुख्यत: अनभिज्ञ होने के कारण 'आप' को वोट देते हैं। पिछले 5 वर्षों में 'आप' ने झुग्गीवासियों, पटरी दुकानदारों, आटो चालकों, ई-रिक्शा चालकों, बेहद निम्न आर्थिक स्तर के जॉबरों, बिचौलियों आदि के लिए यानी अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्ग के निम्नतर संस्तरों के लिए (जिन पर कि लगातार पूर्ण सर्वहाराकरण की तलवार लटकती रहती है) कोई विशेष वास्तविक क़दम नहीं उठाया है, सिवाय प्रशासन द्वारा उत्पीड़न को थोड़ा कम करने के और 'पहुँच के भीतर रहने वाली सरकार' की भ्रामक छवि बनाकर। लेकिन अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत न होने के कारण वे 'आप' की निम्नवर्गीय शब्दावली और शैली से आकर्षित होकर उसे अपनी पार्टी के रूप में देखते हैं। यह वर्ग सिर्फ़ आर्थिक झटके खाकर अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत नहीं हो सकता है, बल्कि क्रान्तिकारी ताक़तों को इसे सतत् राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण भी देना पड़ेगा। इन दोनों प्रक्रियाओं के ज़रिये ही अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निम्नतम संस्तर एक लम्बी प्रक्रिया में 'आप' के असली वर्ग चरित्र को समझ सकते हैं और क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण की आवश्यकता को समझ सकते हैं। इस प्रकार उपरोक्त वर्ग 'आप' का सामाजिक वर्ग आधार हैं, मगर राजनीतिक वर्ग आधार नहीं।

यह पूरी बात मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से पर लागू होती है। मज़दूर वर्ग के भी राजनीतिक रूप से पिछड़े और मँझोले संस्तर का एक हिस्सा वर्ग चेतना के अभाव का शिकार है और 'आप' की शब्दावली से आकर्षित होकर अपने ही वर्ग हितों के विपरीत जाकर 'आप' को समर्थन और वोट देता है, हालाँकि वह उसे लेकर थोड़ा सशंकित भी रहता है क्योंकि सभी औद्योगिक क्षेत्रों में 'आप' के समर्थकों और वित्तपोषकों के तौर पर वह अपने ही मालिकों, ठेकेदारों, मकान-मालिकों, प्रापर्टी डीलरों, दुकानदारों और तरह-तरह के बिचौलियों व दलालों को भी देखता है। लेकिन फिर भी चूँकि उसके पास एक राजनीतिक वर्ग चेतना का अभाव होता है, इसलिए वह 'आप' को ही समर्थन देता है। मज़दूर वर्ग का यह हिस्सा भी राजनीतिक रूप से 'आप' का समर्थन आधार नहीं है, बल्कि वर्ग चेतना के अभाव में सामाजिक रूप से 'आप' का वर्ग आधार है।

लेकिन मज़दूर वर्ग के राजनीतिक रूप से उन्नत तबका और आम मज़दूरों का भी एक हिस्सा एक हद तक 'आप' के वर्ग चरित्र को पिछले पाँच वर्षों में समझता गया है और जानता है कि उसके वर्ग शत्रुओं का समर्थन 'आप' को हासिल है, बल्कि दिल्ली में उसी समर्थन के आधार पर 'आप' टिकी हुई है। वह यह भी समझता है कि केजरीवाल सरकार ने मज़दूरों के लिए कुछ भी नहीं किया है, उल्टे मज़दूरों से किये गये सारे वायदों से मुकरकर मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात किया है। लेकिन फिर भी वह विकल्पहीनता में 'आप' को दो कारणों से वोट देता है। पहला कारण यह है कि भाजपा को वह सीधे-सीधे धुर मज़दूर-विरोधी, ग़रीब-विरोधी, दमनकारी और तानाशाहाना पूँजीवादी पार्टी के रूप में पहचानता है और जो भी जिस भी राज्य में चुनावों में भाजपा को हराने की क़ुव्वत रखता है, उसे वोट देता है। दूसरा कारण यह है कि 'आप' की कुछ कल्याणकारी नीतियों का थोड़ा-बहुत लाभ उसे भी मिलता है या मिलता प्रतीत होता है। इसलिए 'कम बुरे' विकल्प को चुनने के तौर पर वह 'आप' को चुनाव में समर्थन देता है।

'आप' के प्रति भारतीय उदारवादियों का रवैया

उदारवादियों की समस्या यह होती है कि वह हमेशा 'कम बुरे' की तलाश में रहते हैं। 'आप' की जीत के बाद भी वे यही कर रहे थे और फ़ासीवाद की हार के नगाड़े बजाने लगे थे। हालाँकि उनका यह जोश कुछ ही दिनों में ठण्डा पड़ गया। आम आदमी पार्टी की जीत को दिल्ली की जनता द्वारा साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को नकार देने के रूप में पेश करना एक भयंकर भूल और राजनीतिक नादानी है, और वह भी आत्मघाती क़िस्म की। यह समझना बहुत ज़रूरी है कि 'आप' की विचारधारा और राजनीति वास्तव में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद का विरोध नहीं करती है, बल्कि यह हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद को मज़बूत करने में योगदान भी कर सकती है। यह भूलना नहीं चाहिए कि केजरीवाल और 'आप' का उदय ही एक दक्षिणपन्थी राष्ट्रवादी आन्दोलन ('इण्डिया अगेंस्ट करप्शन') से हुआ था, जो दिखाने के लिए भ्रष्टाचार के सवाल पर था, लेकिन जिसका असली मक़सद था संघ परिवार की राजनीति के लिए माहौल तैयार करना। इसने भी मोदी के उभार और 2014 में उसकी जीत में एक अहम भूमिका निभायी थी।

ऐसे में हमें दिल्ली में ये काम करने होंगे: पहला और तात्कालिक काम तो यही है कि दिल्ली दंगों के दौरान 'आप' पार्टी और सरकार की शर्मनाक भूमिका का लोगों के बीच पर्दाफ़ाश करने के साथ ही अपराधियों को सज़ा दिलाने, दिल्ली पुलिस की दंगाई हरकतों और उसके बाद लगातार मुसलमानों को प्रताड़ित करने की जाँच कराके कठोर कार्रवाई करने, दंगों में तबाह-बर्बाद लोगों को फिर से बसाने, पर्याप्त मुआवज़ा देने और साम्प्रदायिक तत्वों पर तत्काल रोक लगाने के लिए केन्द्र के साथ ही दिल्ली सरकार पर भी लगातार जनदबाव बनाया जाये।

इसके बाद, आने वाले समय में केजरीवाल सरकार को मजबूर किया जाना चाहिए कि वह चुनाव घोषणापत्र में किये गये सारे वायदों को पूरा करे। दूसरा, वह रोज़गार गारण्टी क़ानून दिल्ली राज्य स्तर पर पारित करे, क्योंकि रोज़गार राज्य सूची में आता है और दिल्ली सरकार के पास यह अधिकार है; तीसरा, हमें माँग करनी चाहिए कि केजरीवाल सरकार सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर स्पष्ट स्टैण्ड ले और महाराष्ट्र, केरल, पंजाब आदि के समान दिल्ली विधानसभा में इसके ख़िलाफ़ प्रस्ताव पारित करे; चौथा, हमें माँग करनी चाहिए कि सभी श्रम क़ानूनों का सख़्ती से पालन हो, इसके लिए श्रम विभाग में भर्तियाँ की जायें और उसे चुस्त-दुरुस्त बनाया जाय; पाँचवाँ, हमें माँग करनी चाहिए कि दिल्ली राज्य सरकार के मातहत आने वाले सभी स्कूलों में धार्मिक प्रार्थनाएँ, धार्मिक सभाएँ, धार्मिक प्रतीक आदि पूरी तरह से वर्जित हों और उन्हें सच्चे मायने में सेक्युलर बनाया जाय; छठा, दिल्ली सरकार के मातहत स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा को पूर्णत: नि:शुल्क बनाया जाय; सातवाँ, दिल्ली सरकार मॉब लिंचिंग व साम्प्रदायिक राजनीति पर पूर्ण रोक लगाने के लिए सख़्त क़ानून पारित करे जिसमें कठोर दण्ड का प्रावधान हो; आठवाँ, दिल्ली सरकार के मातहत सभी अस्पतालों में चिकित्सा पूर्ण रूप से निशुल्क हो; नौवाँ, मज़दूरों हेतु सरकारी आवास के प्रोजेक्ट बनाये जाने की माँग उठायी जानी चाहिए। इसी प्रकार अन्य मज़दूर वर्गीय और मेहनतकश जनसमुदायों की माँगों की पहचान की जानी चाहिए और 'आप' सरकार से इन माँगों के लिए संघर्ष किया जाना चाहिए। इन संघर्षों की प्रक्रिया में ही 'आप' की आम आदमी वाली नौटंकी का पर्दाफ़ाश होगा और मेहनतकश जनता के विभिन्न वर्ग उसके असली वर्ग चरित्र को भी समझेंगे।

ये महज़ कुछ तात्कालिक कार्यभार हैं, कोई समूचा राजनीतिक कार्यक्रम नहीं। लेकिन हमें लगता है कि इन क़दमों से शुरुआत तो की ही जानी चाहिए, ताकि मज़दूर वर्ग को एक स्वतंत्र राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित किया जा सके और उसे व्यापक मेहनतकश अवाम के राजनीतिक नेतृत्व के रूप में तैयार किया जा सके।

क्रान्तिकारी ताक़तों को सर्वहारा वर्ग के बीच राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और राजनीतिक कार्य के ज़रिये एक अलग क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की आवश्यकता की ज़रूरत का सतत् प्रचार करना चाहिए। उन्हें बताना होगा कि जब तक पूँजीवादी चुनावों के दायरे में मज़दूर वर्ग की अपनी स्वतंत्र राजनीतिक आवाज़ और पक्ष नहीं खड़ा होगा, तब तक मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग की इस या उस पार्टी का पिछलग्गू बनने को मजबूर होगा। क्रान्तिकारी ताक़तों के लिए सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निचले तबकों को राजनीतिक रूप से अपनी ओर करना ही होगा। यह न सिर्फ़ दिल्ली में 'आप' और भाजपा को राजनीतिक चुनौती देने के लिए अनिवार्य है, बल्कि यह बाक़ी देश में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की ताक़त को आम तौर पर राजनीतिक चुनौती देने के लिए भी ज़रूरी है।

हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वत:स्फूर्ततावाद से आगे, बहुत आगे, जाने की ज़रूरत क्यों है?

– अभिनव

यह बात बार-बार दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि 1970 के दशक के बाद के प्रचण्ड जनान्दोलन के बाद नागरिकता संशोधन क़ानून, राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर, व राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के ख़िलाफ़ देश भर में खड़ा हुआ आन्दोलन सम्भवत: सबसे बड़ा आन्दोलन है। अगर अभी इस पहलू को छोड़ दें कि इन दोनों ही आन्दोलनों में क्रान्तिकारी नेतृत्व की समस्या का समाधान नहीं हो सका, तो भी यह स्पष्ट है कि अगर वर्तमान आन्दोलन का कोई क्रान्तिकारी राजनीतिक नेतृत्व उभर सका, तो इस आन्दोलन में ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी जनवादी और प्रगतिशील सम्भावना निहित है। 1970 के दशक के आन्दोलन के समय एक सशक्त क्रान्तिकारी धारा की मौजूदगी के बावजूद, क्रान्तिकारी शक्तियाँ ग़लत कार्यक्रम, रणनीति और आम रणकौशल के कारण आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथों में नहीं ले सकीं थीं और नेतृत्व और पहलक़दमी जयप्रकाश नारायण के हाथों में चली गयी, जिन्होंने इस जनउभार में अभिव्यक्त हो रहे क्रान्तिकारी ग़ुस्से और जनअसन्तोष को मौजूदा व्यवस्था के दायरे के भीतर ही सीमित कर दिया, काफ़ी रैडिकल जुमलों का शोर करते हुए। यानी वही काम जो प्रेशर कुकर में सेफ्टी वॉल्व करता है। बहरहाल, चूँकि मौजूदा आन्दोलन अभी जारी है, इसलिए ऐसे नेतृत्व के उभरने की उम्मीदें फ़िलहाल कम होने के बावजूद पूरी तरह से ख़त्म नहीं मानी जा सकतीं।

लेकिन यदि ऐसा कोई नेतृत्व इस बार नहीं भी उभर पाता है, तो ऐसे आन्दोलन हमेशा ही जनसमुदायों के लिए सकारात्मक और नकारात्मक राजनीतिक शिक्षा की एक पाठशाला साबित होते हैं। जनता की सामूहिक स्मृतियों में ऐसे आन्दोलनों की अस्पष्ट छवियाँ, इसके सबक़ और इसकी यादें कहीं न कहीं मौजूद रहती हैं और भावी आन्दोलनों में जनता को शिक्षित करने की एक ज़मीन बनती हैं। इस रूप में मौजूदा आन्दोलन पहले ही एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच चुका है, जहाँ यह जनस्मृतियों की चट्टान में अमिट रूप में उकेरा जा चुका है। **इन अर्थों में हम काफ़ी-कुछ हासिल कर चुके हैं। लेकिन जो हमें हासिल करना है, उसकी तुलना में जो हासिल हुआ है उसे अभी मामूली ही कहा जा सकता है।** इसलिए हमें पहले इसे पर बात करनी चाहिए कि इस हासिल को ज़्यादा से ज़्यादा कैसे बनाया जा सकता है। यहाँ हम इसी पर चर्चा करेंगे।

हमने इस आन्दोलन के तहत सीएए-एनआरसी-एनपीआर की असलियत के बारे में हिन्दू जनसमुदायों, विशेषकर मेहनतकश व टटपुँजिया जनसमुदायों में, प्रचार की आवश्यकता पर अन्यत्र बात रखते हुए पहले ही कहा था कि यदि व्यापक रूप से ऐसा किया जाता है तो संघ परिवार इस आन्दोलन का मुक़ाबला नहीं कर पायेगा। क्योंकि तब वह इस आन्दोलन को 'मुसलमानों का आन्दोलन', 'पाकिस्तानपरस्त लोगों का आन्दोलन' आदि के तौर पर व्यापक ग़ैर-मुसलमान आबादी में प्रचारित नहीं कर सकेगा। इसलिए सबसे बड़ी ज़रूरत है कि इस आन्दोलन में सक्रिय राजनीतिक ताक़तें पहले से सहमत लोगों को सहमत करने और उनके जुटानों के आधार पर आन्दोलन को जीत की ओर बढ़ने के दावे करने की बजाय, या धरना प्रदर्शनों के 30, 50 या 70 दिन तक जारी रहने के जश्नों से आगे जायें और **वॉलण्टियरों की टीमें गठित करके, सरल भाषा में सीएए-एनआरसी की असलियत बताने वाले पर्चों को लेकर शहरों व गाँवों की गली-गली में घर-घर जाकर प्रचार करें। लेकिन यह भी काफ़ी नहीं है।** इससे ज़्यादा से ज़्यादा यह सफलता हासिल होगी कि एनपीआर का जनबहिष्कार ज़्यादा कामयाब होगा और फ़िलहाल एनआरसी लागू करने की भाजपा सरकार की चाल नाकामयाब हो जायेगी। इसके साथ आन्दोलनकारी घरों को लौट जायेंगे। लेकिन कल भाजपा सरकार फिर से कोई नया फ़ासीवादी फ़रमान या क़ानून लेकर आयेगी। यह सरकार फ़ासीवादियों की है। वे फिर से जनता के निष्क्रिय होने का इन्तज़ार करेंगे। और फिर कोई नयी चाल खेलेंगे। इसलिए अगर हम चाहते हैं कि मौजूदा आन्दोलन को एक आम फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन में तब्दील करके मोदी-शाह की सत्ता के पतन तक ले जायें और फिर उससे भी आगे, तो फिर हमें इस आन्दोलन की **दो राजनीतिक कमियों** को दूर करना होगा।

आन्दोलन में संगठन, संरचना और राजनीतिक नेतृत्व का अभाव, उसकी आवश्यकता और उसके प्रति सचेतन प्रतिरोध की अराजकतावादी भावना

पहली राजनीतिक कमी है इस आन्दोलन में एक ऐसी प्रवृत्ति का मौजूद होना जो कि सचेतन तौर पर किसी भी प्रकार संगठन, सुनियोजित योजना और संरचना के विकसित होने का विरोध करती है। उसका मानना है कि जनता की स्वत:स्फूर्त रचनात्मकता ही काफ़ी है। जो भी लोग इस आन्दोलन में शुरू से लगातार मौजूद रहे हैं वे जानते हैं कि यह काफ़ी नहीं है। लोगों को स्पष्ट राजनीतिक दृष्टि की और राजनीतिक नेतृत्व की ज़रूरत है और वे इसकी माँग भी कर रहे हैं। उन्हें इस बात की ज़रूरत महसूस हो रही है कि आन्दोलन में एक राजनीतिक नेतृत्व को यह स्पष्ट करना चाहिए कि आगे क्या करना है। आन्दोलन के उन्नत तत्व स्वयं ही पूछ रहे हैं कि क्या सिर्फ़ एक जगह बैठे रहने से काम चल जायेगा? या फिर आगे की कोई स्पष्ट कार्ययोजना होनी चाहिए? यह समझना ज़रूरी है कि हम जिस ताक़त से टकरा रहे हैं वह एक काडर-आधारित अनुशासित फ़ासीवादी संगठन यानी संघ परिवार है। यह फ़ासीवादी संगठन आज सत्ता में है। जब यह सत्ता में नहीं भी रहता तो यह मज़दूरों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों के विरुद्ध लम्बी योजना के साथ संगठित रूप से काम करता है। **क्या ऐसी ताक़त को *सिर्फ़* जनता की रचनात्मक स्वत:स्फूर्तता के आधार पर हराया जा सकता है**? यह असम्भव है। कोई भी तार्किक और व्यावहारिक व्यक्ति इस बात को समझ सकता है।

अगर मौजूदा आन्दोलन के समक्ष कुछ समय के लिए मोदी-शाह की फ़ासीवादी सरकार को पीछे भी हटना पड़ता है, तो भी जनान्दोलन के समाप्त होते ही और जनता के *राजनीतिक रूप से* सापेक्षिक रूप से निष्क्रिय होते ही वे अपनी अगली चाल की तैयारी शुरू कर देंगे। **क्योंकि ये फ़ासीवादी ताक़तें स्वत:स्फूर्तता के भरोसे नहीं हैं, बल्कि सचेतन तौर पर और सक्रियता के साथ एक फ़ासीवादी एजेण्डा पर काम कर रही हैं। वे अपनी जीत का जश्न मनाने या हार का मातम मनाने में ज़्यादा वक़्त बर्बाद नहीं करते हैं।** हमारे वे युवा साथी जो कि मानते हैं कि संगठन कोई दानवी शक्ति है, जो कि जनता पर ही तानाशाही करने लगने के लिए बाध्य है और इसलिए जो कि हर सूरत में जनता की स्वत:स्फूर्त रचनात्मकता को मार देती है, उन्हें समझना चाहिए कि यह सामान्य संगठन-विरोध, संरचना-विरोध और प्राधिकार-विरोध वास्तव में आन्दोलन के लिए नुक़सानदेह है।

इसका बुनियादी कारण यह है कि जब तक वर्ग समाज मौजूद है तब तक जनता राजनीतिक व मानसिक तौर पर भी अलग-अलग संस्तरों में बँटी रहेगी। जब तक मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच अन्तर मौजूद है तब तक जनता का राजनीतिक व मानसिक तौर पर कई संस्तरों में बँटा होना नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व लेने वालों में विभाजन के रूप में अनिवार्य रूप में अभिव्यक्त होगा। यह किसी भी व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र है। **वर्गविहीन समाज में भी नेतृत्व करने और नेतृत्व प्राप्त करने में अन्तर होता है, लेकिन तब यह विभाजन बदलता रहता है और दूसरा, नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व प्राप्त करने वालों की भूमिकाओं में कोई एक हीन या प्रतिष्ठित नहीं मानी जाती है और इस रूप में इन भूमिकाओं के साथ जुड़े सत्ता-मूल्य समाप्त हो जाते हैं।** आपकी कितनी भी सदिच्छा हो लेकिन ऐसे वर्ग विहीन समाज के अस्तित्व में आने और मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर के समाप्त होने से पहले आप मनमाफ़िक तरीक़े से इस अन्तर को समाप्त नहीं कर सकते हैं। ऐसा सोचना या प्रयास करना मनोगतवाद है।

कैम्पसों में उत्तर-आधुनिकतावाद और अराजकतावाद के प्रभाव के कारण बहुत से ईमानदार युवा साथी ऐसी सदिच्छा लेकर इस आन्दोलन में आये हैं। उनमें से भी समझदार साथी कहीं न कहीं इस बात की ज़रूरत को महसूस कर रहे हैं कि एक स्पष्ट कार्यक्रम होना चाहिए और ऐसे स्पष्ट कार्यक्रम के निर्माण और उसकी स्वीकार्यता के लिए एक राजनीतिक नेतृत्व का विकास करना अनिवार्य है। लेकिन उत्तर-आधुनिकतावाद और अराजकतावाद को प्रगतिशील और विद्रोही मानने की भूल करने वाले तमाम युवा साथी अपनी सामाजिक प्रगतिशीलता के बावजूद इस प्रतिक्रियावादी विचारधारा के प्रभाव में हैं। ये साथी शानदार युवा हैं और हमारे आन्दोलन के भावी अगुवा तत्व हैं। इन्हें जितनी जल्दी हो सके इस विषैली विचारधारा से मुक्त हो जाना चाहिए और समाज की गति के विज्ञान से वाक़िफ़ हो जाना चाहिए।

"संविधान बचाओ" का नारा और संविधानवाद हमारे आन्दोलन के लिए घातक है

अब आते हैं उस प्रमुख समस्या पर जिसका इस आन्दोलन में समाधान करना ही होगा। यह समस्या है संविधानवाद और अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद के असर की समस्या जिसका आन्दोलन के तात्कालिक और दूरगामी हितों के साथ अन्तरविरोध है। बहुत-से लोग इस अन्तरविरोध की बात सुनकर नाराज़ हो जायेंगे और हमें जातिवादी, ब्राह्मणवादी और सवर्णवादी जैसी उपाधियों से नवाज़ देंगे। उनसे भी हम कहेंगे कि इन पूर्वाग्रहों और भावुकता को किनारे रखकर एक बार हमारी बात सुनें और यह समझें कि राजनीतिक आलोचना और गाली देने में फ़र्क़ होता है। यदि तथ्यों और तर्कों के आधार पर हमारी बात में कोई कमी है, तो निश्चित तौर पर आलोचनाओं का स्वागत है। अम्बेडकर द्वारा बनाये गये संविधान या अम्बेडकर की राजनीतिक विचारधारा (ड्यूईवादी व्यवहारवाद) की आलोचना करके कोई जातिवादी या ब्राहम्णवादी नहीं हो जाता है।

कुछ लोगों को शायद हमारी बातों पर ताज्जुब होगा क्योंकि उन्हें हमारे संविधान के "महान जनवादी", "महान सेक्युलर" चरित्र के बारे में इतना कुछ बचपन से लेकर आज तक बताया गया है कि उन्हें इस बात पर यक़ीन ही नहीं होगा कि न तो हमारे संविधान और समूची विधिक व्यवस्था का जनवाद बहुत मज़बूत बुनियाद पर है और न ही इसके सेक्युलर मूल्य वास्तव में सेक्युलर मूल्य माने जा सकते हैं। लेकिन किसी को अच्छा लगे या बुरा, सच यही है और इस लेख में यह बात प्रमाण के साथ दिखलायेंगे।

हम सभी जानते हैं कि मौजूदा आन्दोलन में हमारे विरोध प्रदर्शनों को कुचलने के लिए जिस धारा का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया गया है वह है आईपीसी की धारा 144 । भारतीय दण्ड संहिता, जिसे 1860 के दशक में अंग्रेज़ों ने बनाया और लागू किया था, दुनिया की सबसे पुरानी, सबसे ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना दण्ड संहिता है। कोई भी धारा 144, धारा 149, राजद्रोह के क़ानून (धारा 124ए), धारा 295ए पढ़कर इसे समझ सकता है। **आप यदि इन धाराओं को पढ़ें तो आपके दिमाग़ में पहला सवाल यह आयेगा कि लोकतंत्र होने का दावा करने वाले देश की दण्ड संहिता में ऐसी धाराएँ कैसे हो सकती हैं? आज़ादी के बाद क़ानून मंत्रालय ने भारतीय दण्ड संहिता को लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया। ग़ौरतलब है कि पहले क़ानून मंत्री डा. अम्बेडकर थे।** वास्तव में, आईपीसी का पूरा आठवाँ अध्याय ही सभी जनवादी और नागरिक अधिकारों को कुचलने के रास्ते और तरकीबें सरकारों को बताता है, और उनके क़ानूनी अधिकार भी सरकारों को देता है। हम आग्रह करेंगे कि सभी पाठक एक बार इस अध्याय को पढ़ लें जिसका नाम है "सार्वजनिक शान्ति के ख़िलाफ़ अपराध"। बताने की ज़रूरत नहीं है कि सरकार हर उस चीज़ को सार्वजनिक अशान्ति का नाम देती है, जिससे कि सरकार को डर लगता है।

आप कहेंगे संविधान में धारा 19 में स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार दिया गया है। **लेकिन 1951 में ही जनता के इस अधिकार को कुचलने के लिए धारा 19बी जोड़ दी गयी जिसके अनुसार इस अधिकार पर "तर्कसंगत" सीमाएँ होंगी। कौन-सी सीमाएँ तर्कसंगत होंगी, ये सरकार और न्यायपालिका तय करेगी!** ज़ाहिर है, सरकार और व्यवस्था हमेशा ही अपने ख़िलाफ़ होने वाली अभिव्यक्ति को "अतर्कसंगत" कह सकती है। **वैसे क्या आपको पता है कि संशोधन करने वाली कैबिनेट कमेटी में यह रोक लगाने के प्रावधान का प्रस्ताव किसने रखा था? डा. अम्बेडकर ने।** इसका तर्क यह था कि धार्मिक रूप से भड़काऊ व साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाने वाले भाषण देने से लोगों को रोका जा सके। यह पूरा तर्क बेकार है

(पेज 10 पर जारी)

हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वत:स्फूर्ततावाद से आगे, बहुत आगे, जाने की ज़रूरत क्यों है?

(पेज 9 से आगे)

क्योंकि इसके लिए क़ायदे से सरकार को संविधान में संशोधन करके इस विषय पर अलग से एक धारा जोड़नी चाहिए थी। संविधान में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के अधिकार वाली धारा को संशोधित करके उसे बाशर्त क़ानून बनाने का इस्तेमाल हमेशा जनता के ख़िलाफ़ ही होना था, ये सभी जानते थे। इसका सबूत यह है कि पिछले 72 वर्षों में इसका इस्तेमाल हमेशा अपने हक़ों के लिए लड़ रही जनता के ख़िलाफ़ ही हुआ है। क्या आपको याद आता है कि कभी इसका इस्तेमाल वास्तव में उन लोगों के भी ख़िलाफ़ हुआ है जो साम्प्रदायिक ज़हर घोलने का काम करते हैं जैसे कि योगी आदित्यनाथ, आडवाणी, वाजपेयी, तोगड़िया, प्रवेश वर्मा, कपिल मिश्रा? नहीं! क्या आप ऐसे कुछ उदाहरण दे सकते हैं जब इन प्रावधानों का इस्तेमाल क्रान्तिकारियों, जनान्दोलन के नेताओं, आदि के ख़िलाफ़ हुआ हो? यदि आप अख़बार पढ़ते रहे हैं और समाचार सुनते रहे हैं तो पिछले 15 वर्षों से ही आप ऐसे दर्जनों उदाहरण दे सकते हैं। इसलिए अभिव्यक्ति के अधिकार से खिलवाड़ के बिना ही धार्मिक व साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाने वाली राजनीतिक शक्तियों पर रोक लगाना सम्भव था। लेकिन जानबूझकर अभिव्यक्ति के अधिकार को ही तथाकथित "तर्कसंगत सीमाओं" में रख दिया गया, जिन्हें परिभाषित करने का उत्तरदायित्व सरकारों का होगा! इससे अच्छा तो सीधे ही लिख देना था कि सरकार का विरोध करने का हक़ केवल उसी हद तक होगा जितना कि सरकारों को बर्दाश्त हो! इससे हमारा संविधान ज़्यादा ईमानदार भी बन गया होता और इतना भारी-भरकम भी नहीं होता, क्योंकि जनता के हर अधिकार की धारा के साथ आपको वह अधिकार छीनने वाली धारा भी जोड़नी हो, तो संविधान लम्बा तो हो ही जायेगा।

संशोधनों की बात छोड़ भी दी जाये, तो हमारे मूल संविधान में ही ऐसे प्रावधान मौजूद हैं, जो कि सरकार को यह ताक़त देते हैं कि वह सरकार के विरुद्ध जनता के विरोध व प्रतिरोध को "आन्तरिक सुरक्षा" के लिए ख़तरा क़रार दे दे और उसे ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दे। **याद रहे कि आपातकाल के प्रावधान हमारे संविधान में मौजूद थे और इन्दिरा गांधी को आपातकाल लगाने के लिए किसी संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। आपातकाल के बाद 44वाँ संशोधन किया गया था कि आपातकाल लगाने के कारण के तौर पर सरकार को "आन्तरिक अशान्ति" की बजाय युद्ध या विद्रोह की स्थिति को दिखलाना पड़ेगा या यह साबित करना पड़ेगा कि आन्तरिक विद्रोह का ख़तरा मौजूद है! हम जानते हैं कि यह भी कोई मुश्किल काम नहीं है। संविधान के भाग अट्ठारह में वे सभी ग़ैर-जनवादी प्रावधान मौजूद हैं, जो कि सभी जनवादी अधिकारों को छीनने की शक्ति सरकार को देते हैं।** आइये ऐसे कुछ प्रावधानों को देखते हैं।

धारा 352 के अनुसार, कैबिनेट द्वारा लिखित रूप में अनुशंसा किये जाने पर राष्ट्रपति आपातकाल लागू कर सकता है। यह आपातकाल पूरे देश पर या किन्हीं राज्य/राज्यों पर लागू किया जा सकता है। संसद में सरकार हर तीस दिन पर इस आपातकाल को जारी रखने का निर्णय पारित करवा सकती है।

धारा 353 के अनुसार, एक बार आपातकाल लागू हो जाने के बाद राज्यों के सारे संघीय संवैधानिक अधिकार रद्द हो जायेंगे। संघ अथवा राज्यों के सरकारी अधिकारियों के लिए केन्द्र सरकार आदेश देने में सक्षम होगी और उसके आदेश बाध्यताकारी होंगे। धारा 355 के अनुसार, केन्द्र सरकार बाह्य हमले या **आन्तरिक अशान्ति** के कारण सरकार की रक्षा करेगी।

आपातकाल लागू होने पर सभी भारतीय नागरिकों के सभी मूलभूत अधिकार रद्द हो जायेंगे। आपातकाल 'आन्तरिक अशान्ति' या 'आन्तरिक विद्रोह' के होने या 'उसका ख़तरा/आशंका होने पर' लागू किया जा सकता है। **आन्तरिक अशान्ति या विद्रोह हो रहा है या होने का ख़तरा है, यह कौन तय करेगा? यह सरकार तय करेगी! यानी, जब भी सरकार अपने दमन के ख़िलाफ़ उठती आवाज़ से दमन के ज़रिये नहीं निपट पायेगी और "ख़तरा" महसूस करेगी, तो वह आपातकाल लागू कर सकती है! और ऐसे में आपके सारे अधिकार समाप्त हो जायेंगे।**

हम सभी साथियों से पूछना चाहते हैं: क्या आप इन धाराओं को भी बचाना चाहते हैं? इसमें तो भाजपा और संघ परिवार भी आपसे भी ज़्यादा तेज़ आवाज़ में आपका समर्थन करेंगे! जब आप "संविधान बचाओ" का नारा देते हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं होता है कि "60 प्रतिशत संविधान बचाओ" या "70 प्रतिशत संविधान बचाओ"। इसका मतलब होता है कि पूरे संविधान को बचाओ। जब आप पूरे संविधान को बचाते हैं, तो आप भाग अट्ठारह की इन ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना धाराओं को भी बचाते हैं। तब आप आईपीसी और सीआरपीसी को भी बचाते हैं, जो कि संविधान का अंग तो नहीं हैं, लेकिन संवैधानिक व विधिक ढाँचे का अंग ही हैं। इसकी भी सभी भयंकर दमनकारी औपनिवेशिक धाराओं को 1950-51 में क़ानून मंत्रालय द्वारा की गयी समीक्षाओं में बदला नहीं गया था, जैसेकि धारा 144, धारा 124 (ए), वगैरह। यह डा. अम्बेडकर की अध्यक्षता में बनी क़ानून मंत्रालय की समीक्षा समिति द्वारा भी नहीं हटायी गयी थीं। धारा 19 में भी अभिव्यक्ति के अधिकार पर "तर्कसंगत सीमाएँ" भी डा. अम्बेडकर के सुझाव पर ही जोड़ी गयी थीं, जिन "तर्कसंगत सीमाओं" की व्याख्या करने की ज़िम्मेदारी सरकार की होगी।

अब आप ही बतायें, ऐसा संविधान किस हद तक जनवादी और नागरिक अधिकारों की, विरोध करने के अधिकार की और शान्तिपूर्ण रूप से एकत्र होने के अधिकार की रक्षा कर सकता है? यह तो हो गयी सैद्धान्तिक बात। अब आनुभविक बात पर सोचें। **क्या संविधान आज़ादी के बाद के 72 वर्षों में जनता के जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त कर पाया है? जब तक सरकार और व्यवस्था के लिए कोई विरोध-प्रदर्शन और आन्दोलन अपने वर्चस्व के दायरे के भीतर पचा लेने योग्य है, तब तक उसकी अनुमति दी जाती है। यदि कोई आन्दोलन या विरोध इस दायरे का अतिक्रमण करने लगता है, तो धारा 144, धारा 149, धारा 124 (ए), संविधान की धारा 352, 353, 355, आदि का इस्तेमाल करके उसे ग़ैर-क़ानूनी बना दिया जाता है और फिर उसे पुलिस या सेना का इस्तेमाल करके कुचलने की पूरी आज़ादी सरकार को मिल जाती है। यह भारत के आज़ाद होने के बाद बार-बार हुआ है।**

आप यहाँ यह तर्क नहीं दे सकते हैं कि यह तो इसलिए हुआ क्योंकि संविधान को लागू करने वाले बदमाश थे। यह अपने आपको मूर्ख बनाने वाली बात होगी और कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा क्यों करेगा? वास्तव में, "बदमाश लोग" भी ऐसा इसीलिए कर पाते हैं क्योंकि संविधान में बदमाशी करने की इजाज़त देने वाले प्रावधान हैं। यह तो संविधान का काम होता है कि अगर "बदमाश लोग" भी सत्ता में आयें तो वे जनता के जनवादी हक़ों को न छीन पायें, क्योंकि सत्ता में हमेशा "सदाचारी लोग" ही पहुँचे, इसकी कोई गारण्टी नहीं ली जा सकती है और अगर ऐसे "सदाचारी लोग" सत्ता में पहुँच भी जायें तो वे "सदाचारी" ही बने रहेंगे इसकी भी कोई गारण्टी नहीं होती है। अभी तो हम उन बदमाशियों की बात ही नहीं कर रहे हैं जो कि शासक वर्ग और उसके कारकून संविधान को ताक़ पर रखकर करते हैं। यह तो एक थाने का कांस्टेबल ही ग़रीबों के साथ रोज़ ही करता है।

साथ ही, सही मायने में हमारा संविधान सेक्युलर भी नहीं है। सेक्युलरिज़्म से जुड़ी हुई संविधान में तीन धाराएँ हैं जो कहती हैं कि हर किसी को अपने धर्म का पालन करने की आज़ादी है, राज्य का कोई आधिकारिक धर्म नहीं होगा और तीसरा कि किसी के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। **लेकिन क्या सेक्युलरिज़्म का यही अर्थ होता है? नहीं! सेक्युलरिज़्म का अर्थ होता है राज्य और सामाजिक जीवन का धर्म से पूर्ण विलगाव। यदि हमारा राज्य सही मायने में सेक्युलर होता तो चुने गये पदाधिकारी ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं लेते, अदालतों में गीता की शपथ नहीं दिलवायी जाती, स्कूलों में धार्मिक प्रार्थनाएँ नहीं करवायी जातीं और धार्मिक आधार पर बने पर्सनल लॉ नहीं होते। उल्टे ये चीज़ें तो ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक होतीं।** जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया, नफ़रत फैलाने वाले धार्मिक भाषणों पर रोक लगाने के नाम पर 1951 में अम्बेडकर की अध्यक्षता वाली कैबिनेट कमेटी ने धारा 19 द्वारा दिये जाने वाले अभिव्यक्ति के अधिकार पर "तर्कसंगत सीमाएँ" लगाने का संशोधन प्रस्तावित किया था, जो कि बाद में पारित भी हुआ और भारत के संविधान का पहला संशोधन बना। लेकिन हम फिर पूछते हैं कि क्या आप बता सकते हैं कि आज तक किसी भी धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले फ़ासीवादी या धार्मिक कट्टरपंथी नेता पर यह प्रावधान क्यों नहीं लगा या क्यों नहीं असरदार हुआ? अगर यह प्रावधान वास्तव में धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले नेताओं पर वाक़ई रोक लगाने के लिए होता तो अब तक सारे भाजपाई और दूसरे कट्टरपंथी जेल में होते! **अगर वास्तव में मक़सद यह था कि धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले नेताओं पर रोक लगायी जाय, तो फिर नेहरू सरकार और अम्बेडकर को इसके लिए एक अलग धारा जोड़नी चाहिए थी, जो स्पष्ट रूप में बताती और परिभाषित करती कि धार्मिक घृणा फैलाने वाली शक्तियों को सज़ा देने के लिए क्या प्रावधान होंगे और इसकी कड़ी से कड़ी सज़ा निर्धारित करने के लिए भारतीय दण्ड संहिता में धारा जोड़ी जाती।** आईपीसी में पहले से ही घृणा भड़काने वाले भाषणों पर रोक लगाने वाले कई प्रावधान हैं, मगर अव्वलन वे निष्प्रभावी हैं और दूसरा उनके मातहत जितनी सख़्त सज़ा का प्रावधान होना चाहिए, वह नहीं है। लेकिन दूसरी ओर, धारा 149 के मातहत शान्तिपूर्ण रूप से एकत्र होने वालों पर भी ऐसे नियम लागू कर दिये गये हैं, जो उनके लगभग सभी मौलिक अधिकार तक छीन लेते हैं! लेकिन संविधान में और आईपीसी में धार्मिक कट्टरपंथी राजनीति पर पूर्ण रोक लगाने और ऐसा करने वालों के लिए कठोरतम दण्ड निर्धारित करने की बजाय, इसको रोकने के नाम पर संविधान की धारा 19 में ही "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता" को बाधित कर दिया गया। अब पिछले 72 वर्षों में इसका नतीजा क्या हुआ है, यह सभी जानते हैं। डा. कफ़ील खान जेल जाते हैं और फ़ासीवादी योगी आदित्यनाथ पूरे देश में साम्प्रदायिक भाषण देते हुए घूमता है। और ऐसा केवल भाजपा के केन्द्र सरकार में होने पर नहीं होता है। योगी को तो अपना राजनीतिक जीवन शुरू करते ही कोई सही मायने में सेक्युलर और जनवादी संवैधानिक व्यवस्था जेल की सलाख़ों के पीछे डाल देती और वह भी धारा 19 में जनता के बुनियादी जनवादी अधिकार के साथ कोई खिलवाड़ या छेड़छाड़ किये बिना। लेकिन हुआ उसका उल्टा। गौतम नवलखा, सुधा भारद्वाज और यहाँ तक कि रामचन्द्र गुहा और योगेन्द्र यादव और प्रशान्त भूषण तक को झूठे आरोपों में या शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने के आरोप में गिरफ़्तार या डिटेन कर लिया जाता है और योगी, कपिल मिश्रा, प्रवेश वर्मा जैसे फ़ासीवादी गुण्डे धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले और दंगे करवाने वाले भाषण देते घूमते रहते हैं! **ज़ाहिर है कि इसमें इस बात की भी एक भूमिका है कि सत्ता में कौन है, लेकिन इस बात से इन्कार करना भी अपने आपको भुलावे में रखना होगा कि हमारे संविधान में वास्तव में ऐसी धाराएँ हैं, जोकि आम मेहनतकश जनता, आन्दोलनकारियों और विरोध-प्रतिरोध करने वालों के सारे नागरिक व जनवादी अधिकारों को छीनने के हथियार सत्ता में बैठे लोगों को देती हैं।**

इसलिए यह गम्भीरता से सोचना होगा कि क्या हमारे मौजूदा आन्दोलन के लिए "संविधान बचाओ" का नारा सही नारा है या फिर एक आत्मघाती नारा। हम **संविधान बचाने की गुहार लगाये बिना संविधान द्वारा मिलने वाले कुछ जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष कर सकते हैं और हमें ऐसा ही करना चाहिए। संविधान में जो भी सीमित अर्थों में जनवाद है, उसको ख़त्म करने के ख़िलाफ़ हमें लड़ना चाहिए, लेकिन बिना "संविधान बचाओ" का नारा दिये, क्योंकि इन्हीं जनवादी अधिकारों को छीन लेने का भी पूरा अधिकार संविधान में ही है।** हमारे आन्दोलन का रास्ता संविधानवाद या अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद नहीं हो सकता है। जाति उन्मूलन के प्रति डा. अम्बेडकर के सरोकार को हम भी साझा करते हैं।

(पेज 11 पर जारी)

सावधान! राज्यसत्ता आपके जीवन के हर पहलू पर नज़र रख रही है!

– रूपा

हाल के वर्षों में देश की सुरक्षा और आतंकवाद के बहाने भारत की राज्यसत्ता देश के हर नागरिक की निजता को तार-तार कर रही है। लोगों में आतंकवाद और आन्तरिक सुरक्षा पर ख़तरे का भय पैदा करके वास्तव में सरकार लोगों की निजता पर हमला बोल रही है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 और 21 के तहत निजता का अधिकार हमारा मूलभूत अधिकार है और उसकी रक्षा करना सरकार की ज़िम्मेदारी है। लेकिन हुक्मरानों को हमेशा से जनता का भय सताता रहा है। जब कांग्रेस सत्ता में थी तब उसे भी भय सता रहा था। सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 में सबसे पहले कांग्रेस ने संशोधन किये। कांग्रेस सरकार ने सुरक्षा की दृष्टि से कुछ भारतीय सुरक्षा एजेंसियों को फ़ोन कॉल्स, मोबाइल डेटा या कम्प्यूटर डेटा के ज़रिये किसी भी नागरिक की जासूसी करने की ताक़त दे दी थी। लेकिन भाजपा सरकार ने तो 10 एजेंसियों को इसकी खुली छूट दे दी है। पहले ये सब काम गृह मंत्रालय के अधीन था लेकिन अब इसे दस एजेंसियों के हवाले कर दिया गया है।

ब्रिटिश राज के समय सरकार को ये भय था कि कहीं भारत में उसकी चूलें न हिल जायें। उस समय ब्रिटिश सरकार ने 1885 में भारत में लोगों की जासूसी करने के लिए भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम पारित करवाया था। इसके सेक्शन 5 के अनुसार आपातकालीन परिस्थिति में सार्वजनिक सुरक्षा के लिए केन्द्र सरकार और राज्य सरकार नागरिकों के बीच की निजी बातचीत भी खंगाल सकती है।

भारतीय टेलीग्राफ़ अधिनियम 1885 के तहत केन्द्र सरकार या राज्य सरकार को आपातकाल या लोक-सुरक्षा के हित में फ़ोन सन्देश को प्रतिबन्धित करने एवं उसे टेप करने तथा उसकी निगरानी का अधिकार हासिल था। भारतीय टेलीग्राफ़ (संशोधन) नियमों के नियम 419 एवं 419 ए में टेलीफ़ोन सन्देशों की निगरानी एवं पाबन्दी लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इसके तहत केवल सरकारी एजेंसियों को ही यह अधिकार हासिल है कि वह गृह मंत्रालय से पूर्व इजाज़त लेकर किसी भी व्यक्ति का फ़ोन टेप कर सकती हैं।

हालाँकि वित्त मंत्रालय एवं सीबीआई को यह अधिकार है कि वो बिना गृह मंत्रालय के इजाज़त के भी किसी व्यक्ति की फ़ोन कॉल 72 घण्टे तक टेप कर सकती है।

यही नहीं सेन्ट्रल मॉनिटरिंग सिस्टम के अस्तित्व में आने से न्यायिक हस्तक्षेप की गुंजाइश को बिल्कुल ही ख़ारिज कर दिया है। यह एक डेटा संग्रह प्रणाली है जिसका संचालन भारत सरकार द्वारा किया जाता है। इसे भारतीय संसद में 2012 में प्रस्तावित किया गया है तथा इसने अप्रैल 2013 से काम करना शुरू कर दिया। इसे अमेरिकी सरकार के विवादास्पद प्रोग्राम 'प्रिज़्म' की तरह लोगों के निजी जीवन में हस्तक्षेप करने वाला बताया जा रहा है। यह भारत सरकार को फ़ोन पर हो रही बातचीत पढ़ने, फ़ेसबुक ट्विटर या लिंक्डइन के पोस्ट पर निगरानी रखने और गूगल की खोजों पर नज़र रखने में मदद करता है।

दिसम्बर 2008 में यूपीए सरकार ने सुरक्षा एजेंसियों को किसी व्यक्ति की जासूसी करने का असीमित अधिकार भी दे दिया। इसी तरह 20 दिसम्बर 2018 को गृह मंत्रालय के आदेश के अनुसार सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2002 की धारा 69 के उपखण्ड 1 और सूचना प्रौद्योगिकी नियमावली 2009 के नियम 4 की शक्तियों का उपयोग निम्नलिखित सुरक्षा और ख़ुफ़िया एजेंसियाँ कर सकती हैं और उनके डेटा का खुलासा कर सकती हैं। इसके लिए दस एजेंसियाँ अधिकृत की गयी हैं – इन्टेलीजेन्स ब्यूरो, नारकोटिक्स कन्ट्रोल ब्यूरो, सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ़ डायरेक्ट टैक्सेज़, डायरेक्टोरेट ऑफ़ रेवेन्यू इन्टेलीजेन्स, सीबीआई, नेशनल इन्वेस्टीगेशन एजेंसी, कैबिनेट सचिवालय, रॉ, डायरेक्टोरेट ऑफ़ सिग्नल इन्टेलिजेन्स और कमिश्नर ऑफ़ दिल्ली पुलिस। पहले केवल गृह मंत्रालय टेलीफ़ोन कॉल ट्रेस कर सकता था लेकिन अब आपके कम्प्यूटर में जो कुछ भी है, जो कुछ भी उससे भेजा गया है, जो कुछ भी कम्प्यूटर में स्टोर है या मिटाया जा चुका है, उसे इन्टरसेप्ट करने की एजेंसियों को खुली छूट है। नये क़ानून के मुताबिक़ सब्सक्राइबर, सर्विस प्रोवाइडर, या कोई भी व्यक्ति जिसके पास कम्प्यूटर है उसे एजेंसियों को सारी जानकारी देनी होगी और न देने पर सात साल की जेल हो सकती है।

हाल के वर्षों में पुलिस बलों ने नियमित रूप से फ़िंगरप्रिण्ट और चेहरे पहचानने के सॉफ़्टवेयर का प्रयोग शुरू कर दिया है। हाल ही में सीएए और एनआरसी के ख़िलाफ़ चल रहे विरोध प्रदर्शनों के दौरान मनमाने ढंग से लोगों की जासूसी और निगरानी की गयी। दिल्ली पुलिस ने चेहरे पहचान करने वाले सॉफ़्टवेयर का इस्तेमाल किया। चेन्नई में प्रदर्शनों पर निगरानी रखने के लिए ड्रोनों का इस्तेमाल किया गया। हैदराबाद में पुलिस ने पैदल यात्रियों को रोककर उनके अतीत की आपराधिक गतिविधियों की जाँच करने के लिए फ़िंगरप्रिंट का इस्तेमाल किया।

इस तरह देखा जाये तो भारत में हर नागरिक की निजता पर ख़तरे की तलवार लटक रही है। सरकार हर तरह से निगरानी रखने का काम कर रही है। इस प्रकार वह अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को उठने से पहले ही दबा देने का काम कर रही है। कहने को तो संविधान में हर नागरिक को अभिव्यक्ति की आज़ादी है लेकिन उस आज़ादी की असलियत अब हमारे सामने है। आप सच बोलकर देखिए आपके मुँह पर ताले जड़ दिये जायेंगे या फिर आप पर ग़लत तरीक़े से आरोप लगाकर आपका समाज में निकलना दूभर हो जायेगा।

अभी बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं है, आज फ़ोन कॉल, फ़ोटो, फ़ेसबुक पोस्ट और फ़ेसबुक वीडियो के आधार पर बड़े पैमाने पर लोगों को गिरफ़्तार किया जा रहा है, यहाँ तक कि फ़ेसबुक पोस्ट डालने की वजह से किसी व्यक्ति की मॉब लिंचिंग कर दी जाती है।

निगरानी अधिनियमों को ढीला करके भाजपा सरकार ने पूरे देश को एक निगरानी राज्य के अधीन कर दिया है, जहाँ कोई व्यक्ति सरकार के ख़िलाफ़ या व्यवस्था के ख़िलाफ़ कुछ भी नहीं बोल सकता है, जबकि दूसरी तरफ़ भाजपा ने लाखों आईटी सेल खोल रखे हैं, जो बड़े पैमाने पर झूठ फैला रहे हैं, गन्दे ट्वीट्स कर रहे हैं, पूरे देश में नफ़रत के बीज बोने का काम कर रहे हैं।

अभी दिल्ली के दंगों में भाजपा के कपिल मिश्रा के एक ज़हरीले भाषण से उकसावा मिला जिसे आईटी सेल ने बड़े पैमाने पर वायरल किया। यह सोचने वाली बात है कि ऐसे भड़काऊ भाषण सुरक्षा एजेसियों की नज़र में क्यों नहीं आते और क्यों नहीं ऐसे भाषण देने वालों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई होती है। दूसरी ओर लखनऊ में सीएए का विरोध कर रहे लोगों की होर्डिंग लगाकर उनको सार्वजनिक रूप से अपमानित किया जाता है और उनके ख़िलाफ़ हमले को उकसाया जाता है। एक बात साफ़ है कि मोदी सरकार लोगों के दिमाग़ों पर, उनकी ज़िन्दगी पर पूरी तरह क़ब्ज़ा करना चाहती है। वो भारत को एक ऐसा देश बना देना चाहती है जहाँ उसके ख़िलाफ़ एक भी आवाज़ बाहर न आने पाये। जहाँ लोग उसके हिसाब से सोचें ताकि नफ़रत के बीज बोकर देश को बाँटने और हिन्दू राष्ट्र बनाने के एजेण्डा को गति मिल सके।

संविधान-रक्षा के नारे और स्वत:स्फूर्ततावाद से आगे...

(पेज 10 से आगे)

लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा (ड्यूईवादी व्यवहारवाद) के चरित्र को समझना भी अनिवार्य है।

जैसा कि एजाज़ अहमद ने एडवर्ड सईद के बारे में लिखते हुए कहा था, "आलोचना न करना एकजुटता प्रदर्शित करने का सबसे बुरा तरीक़ा होता है।" इसलिए हमें अम्बेडकर के योगदानों को समझना होगा, लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा और उनके राजनीतिक कार्यक्रम के बेहद सीमित सुधारवादी चरित्र को भी समझना होगा जो कि सरकार (राज्य) को सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता मानता है, जनता के सामूहिक प्रयास से नीचे से बदलाव को ग़लत मानता है, समाज में पूर्ण रूप से क्रमिक विकास के सुधारवादी सिद्धान्त की हिमायत करता है। चूँकि वे सरकार को सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता मानते हैं इसीलिए वह आपातस्थिति को तय करने का अधिकार भी सरकार को ही देते हैं, हालाँकि हर सरकार के लिए आपातस्थिति का अर्थ यह होता है कि उसके लिए आपात स्थिति या ख़तरे की स्थिति है, जनता के लिए नहीं। लेकिन चूँकि अम्बेडकर राज्य को शासक वर्गों के दमन का उपकरण नहीं मानते थे बल्कि एक वर्गेतर संस्था मानते थे, जो कि 'महान मध्यस्थकर्ता' और 'सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता' की भूमिका निभाता है, इसलिए उनके अनुसार सरकार के ये विशेषाधिकार जायज़ हैं। **इसी राजनीतिक विचारधारा से समस्या की शुरुआत होती है और इसीलिए यह आज हमारे फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन का आधार नहीं बन सकती है। न ही संविधानवाद और "संविधान बचाओ" का नारा हमारे आन्दोलन की बुनियाद बन सकता है।**

हम आज के दौर में इन प्रश्नों पर आपको सोचने के लिए इसलिए आमंत्रित कर रहे हैं क्योंकि आज हमारा आन्दोलन एक दोराहे पर खड़ा है। आगे हमें कहाँ जाना है, इसकी कोई एक सोची-समझी रणनीति और दृष्टि अभी तैयार होनी है। यही कारण है कि इन राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्नों को हम कोरे सैद्धान्तिक प्रश्न समझकर नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों और दलित मेहनतकश आबादी के भी जो तमाम सच्चे राजनीतिक कार्यकर्ता हैं, उनसे भी हम दिली अपील करेंगे कि अपने जज़्बात को किनारे रखकर एक बार तार्किक और वैज्ञानिक तौर पर सोचें। यह हमारे आन्दोलन के भविष्य का प्रश्न है। इसी प्रश्न पर साम्प्रदायिक फ़ासीवादी मोदी-शाह की जोड़ी के विरुद्ध हमारी जीत निर्भर करती है।

असम में समस्या प्रवासी नहीं...

(पेज 13 से आगे)

वर्ग के महान शिक्षकों ने आप्रवासन की प्रगतिशील भूमिका को बार-बार रेखांकित किया है क्योंकि यह मज़दूरों के बीच स्थानीय संकीर्णताओं, राष्ट्रीय अवरोधों और पूर्वाग्रहों को तोड़कर सच्चे मायने में अन्तरराष्ट्रीयतावादी स्पिरिट पैदा करने में मदद करता है और इस प्रकार विश्व स्तर पर मज़दूर वर्ग की एकता को सुनिश्चित करता है। लेनिन ने आप्रवासन को पूँजीवाद के असमान विकास का नतीजा बताया था और कहा था कि ग़रीबी ही वह वजह है जो लोगों को अपनी मातृभूमि छोड़ने पर मजबूर करती है।

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि असम में प्रवासी लोगों की वजह से वहाँ की अर्थव्यवस्था और संस्कृति कमज़ोर नहीं हुई बल्कि सुदृढ़ और समृद्ध हुई है। ऐसे में हमें असम के क्षेत्रीय राष्ट्रवादियों और भारत के बुर्जुआ वर्ग द्वारा अप्रवासियों के ख़िलाफ़ की जाने वाली किसी भी कार्रवाई का पुरज़ोर विरोध करना चाहिए। असम की आम आबादी को यह समझाने की ज़रूरत है कि उनकी आजीविका और संस्कृति को ख़तरा अप्रवासियों से नहीं बल्कि पूँजीवाद से है। इसलिए उन्हें शासक वर्गों के झाँसे में आने से बचना चाहिए और अप्रवासियों के ख़िलाफ़ खड़ा होने की बजाय उनके साथ खड़ा होकर पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के संघर्ष में शामिल होना चाहिए। फ़िलहाल असम में जो लोग प्रवासी-विरोध की ज़मीन से सीएए का विरोध कर रहे हैं उन्हें यह बताने की ज़रूरत है कि नफ़रत की इस ज़मीन से विरोध का रास्ता हिंसा और नरसंहार की ओर ही जायेगा। सीएए का विरोध बेशक किया जाना चाहिए, लेकिन सेक्युलरिज़्म और जनवाद की ज़मीन पर खड़े होकर, जिसका मतलब होगा सीएए के साथ ही एनआरसी और एनपीआर का भी विरोध जो अभी असम में नहीं हो रहा है।

सीएए–एनआरसी–एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को हिन्दुत्व फ़ासीवाद–विरोधी आन्दोलन की शक्ल दो!

(पेज 1 से आगे)

की। वहीं निजीकरण के ज़रिये मुनाफ़े में चल रही सरकारी कम्पनियों को भी पूँजीपतियों के हाथों में सौंपा गया ताकि मुनाफ़े की दर के संकट से उन्हें कुछ राहत मिले। इस नीति से भी बेरोज़गारी में बढ़ोत्तरी हुई है और हो रही है क्योंकि निजी पूँजी हमेशा छँटनी और तालाबन्दी करके और उन्नत तकनोलॉजी के ज़रिये श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर औसत मुनाफ़े के ऊपर अतिरिक्त मुनाफ़ा कमाने का प्रयास करती है, हालाँकि लम्बी दूरी में उत्पादकता को बढ़ाकर लागत कम करने की प्रतिस्पर्द्धा की वजह से ही पूरी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर गिरती है और संकट और गहरे रूप में सामने आता है।

यही वह आर्थिक संकट है, जोकि फ़ासीवाद के पैदा होने की ज़मीन तैयार करता है। **आर्थिक संकट का असर क्या होता है? पहला असर होता है कि मज़दूरों के बीच बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ती है और जो मज़दूर रोज़गारशुदा बचे भी रहते हैं, उनकी औसत मज़दूरी गिरती जाती है। इसका कारण यह होता है कि बाज़ार में श्रमशक्ति की आपूर्ति बढ़ जाती है, जबकि मुनाफ़े की दर के गिरने और निवेश में कमी आने के कारण श्रमशक्ति की माँग घट जाती है।** नतीजतन, श्रमशक्ति की क़ीमत गिरती जाती है। यह हमारी आँखों के सामने हो भी रहा है और हम सभी मज़दूर इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं। दूसरा असर होता है छोटी पूँजी का उजड़ना और तबाह होना। मोदी सरकार के साढ़े पाँच साल के राज में यह भी सभी ने देखा है कि किस प्रकार आर्थिक संकट की मार से और मोदी सरकार द्वारा बड़ी पूँजी को बचाने के लिए लागू की गयी आर्थिक नीतियों के कारण किस तरह से छोटे पूँजीपति वर्ग को तबाही का सामना करना पड़ा है। निश्चित तौर पर, इन छोटे मालिकों के वर्ग से हम मज़दूरों की कोई हमदर्दी नहीं हो सकती है क्योंकि हमारी श्रमशक्ति के दोहन में ये किसी भी रूप में बड़े पूँजीपतियों से पीछे नहीं होते, बल्कि अमानवीय तौर-तरीक़ों में तो उनसे आगे ही होते हैं। लेकिन यह सच है कि छोटे उद्योगों के तबाह होने के साथ इस छोटे पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा यदि मज़दूर वर्ग में शामिल नहीं हुआ तो एक सर्वहाराकरण की तलवार ज़रूर उसके सिर के ऊपर लटक गयी है। वह भयंकर आर्थिक अनिश्चितता और असुरक्षा में जी रहा है। यही वह वर्ग है जो कि मोदी-शाह नीत साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का सामाजिक समर्थन आधार बनता है। इसके सबसे निचले संस्तर, यानी कि निम्न मध्यवर्ग का एक हिस्सा फ़ासीवादियों की दंगाई भीड़ का भी हिस्सा बनता है। बेरोज़गार मज़दूर आबादी का भी एक हिस्सा, विशेषकर, उन मज़दूरों का जो कि वर्ग चेतना से रिक्त होते हैं, यानी कि लम्पट सर्वहारा वर्ग का भी एक हिस्सा, फ़ासीवादी दंगाइयों की भीड़ में शामिल होता है। बर्बाद हो चुकी या बर्बादी की कगार पर खड़ी यह आबादी फ़ासीवाद का समर्थन आधार और उनके दंगाइयों की भीड़ का हिस्सा क्यों बनती है? इसे समझना ज़रूरी है। **निम्न मध्यवर्ग के निम्नतर संस्तर और मज़दूर आबादी का लम्पट हिस्सा एक सतत् अनिश्चितता और असुरक्षा में जीता है, लेकिन यह नहीं समझ पाता कि उसकी ज़िन्दगी के इन हालात के कारण क्या हैं? वह नहीं जानता कि इन सबका ज़िम्मेदार कौन है? वह नहीं जानता कि उसका असली दुश्मन कौन है? लेकिन सतत् अनिश्चितता और असुरक्षा उसके भीतर एक अन्धा ग़ुस्सा, एक अन्धी प्रतिक्रिया पैदा करती है।** फ़ासीवाद का क्या काम होता है? इसी अन्धी प्रतिक्रिया और ग़ुस्से को एक नकली दुश्मन देना और असली दुश्मन यानी पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग को बचाना। हिन्दुत्व फ़ासीवाद ने भी भारत में यही किया है। उसने पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक अराजक गति से तबाह छोटे पूँजीपति वर्ग, निम्न मध्यवर्ग के निम्नतर संस्तरों और लम्पट सर्वहारा वर्ग के अन्धे ग़ुस्से और अन्धी प्रतिक्रिया को एक नकली दुश्मन दिया है, यानी मुसलमान और दलित। सतत् असुरक्षा और अनिश्चितता से बिलबिलाये हुए बेरोज़गारी, महँगाई की मार झेलते और अपने असल दुश्मन को पहचान पाने की राजनीतिक वर्ग चेतना और दृष्टि से वंचित ये वर्ग फ़ासीवादियों द्वारा दिखलाये गये नकली दुश्मन पर टूट पड़ते हैं और फ़ासीवादियों की हत्यारों और दंगाइयों की भीड़ में भी शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार ये निम्न मध्यवर्ग और लम्पट सर्वहारा वर्ग के लोग अपने ही वर्ग हितों के ख़िलाफ़ जाते हुए टाटा-बिड़ला-अम्बानी-अडानी जैसे बड़े पूँजीपतियों और पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के हितों की सेवा करने में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की मदद करते हैं। वास्तव में, फ़ासीवाद का हर देश में यही कार्यभार रहा है : टटपुँजिया वर्गों और लम्पट सर्वहारा वर्ग की अन्धी प्रतिक्रिया का इस्तेमाल बड़ी पूँजी के वर्ग हितों की सेवा के लिए करना। हमारे देश में भी संघ परिवार का साम्प्रदायिक फ़ासीवाद यही काम करता रहा है। आज नागरिकता संशोधन क़ानून-राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर-राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर का जो मसला मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता द्वारा उछाला गया है, उसका मक़सद वास्तव में भयंकर आर्थिक संकट, बेरोज़गारी, महँगाई, निजीकरण, छँटनी-तालाबन्दी के और जनता की भयंकर बर्बादी के दौर में धार्मिक ध्रुवीकरण और साम्प्रदायिकता को भड़काकर धार्मिक बहुसंख्या यानी हिन्दुओं के बीच के छोटे पूँजीपति वर्ग, टटपुँजिया वर्गों और लम्पट मज़दूरों को फ़ासीवादी हत्यारों और दंगाइयों की भीड़ का हिस्सा बनाया जाये और पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग के हितों की हिफ़ाज़त की जाये।

क्यों उछाला गया है सीएए-एनआरसी-एनपीआर का मसला इस समय?

फ़ासीवादी मोदी सरकार ने बड़ी पूँजी की सेवा में देश की आम मेहनतकश जनता की बेरोज़गारी, महँगाई, निजीकरण और छँटनी-तालाबन्दी से जब कमर तोड़ रखी है, तो उसी समय इसने नागरिकता संशोधन क़ानून, नागरिकता रजिस्टर व जनसंख्या रजिस्टर का खेल खेला है। इन क़दमों के ज़रिये देश में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और दंगे की राजनीति को बढ़ावा दिया जा रहा है, ताकि लोग अपने जीवन के असली मुद्दों को भूलकर आपस में ही लड़ पड़ें। दूसरी ओर, शाहीन बाग़ से शुरू हुए प्रदर्शनों की फैलती आग से भी मोदी सरकार घबरायी हुई थी। इसलिए भी इन सभी प्रदर्शनों को महज़ 'पाकिस्तान-परस्त मुसलमानों का प्रदर्शन' बताकर मोदी सरकार व्यापक ग़ैर-मुसलमान आबादी में इनके ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काने की नीति पर भी काम कर रही है। बेशक इन प्रदर्शनों में मुसलमान आबादी बहुसंख्या में है क्योंकि वह जानती है कि सीएए और एनआरसी का निशाना सभी मेहनतकशों को बनाया जायेगा, लेकिन मुसलमानों को और ख़ास तौर पर आम मेहनतकश वर्गों से आने वाले मुसलमानों को सबसे पहले निशाना बनाया जायेगा। लेकिन इसके बावजूद सच्चाई यह है कि इन सभी प्रदर्शनों में शामिल लोग केवल मुसलमानों की लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि सभी मेहनतकश वर्गों की लड़ाई लड़ रहे हैं क्योंकि वास्तव में नागरिकता संशोधन क़ानून और एनआरसी सभी धर्मों के आम मेहनतकश लोगों के ख़िलाफ़ है। असम में एनआरसी से यह बात पहले ही साबित हो चुकी है।

लेकिन इस सबके बावजूद भी आम लोगों का एक हिस्सा है जो कि इन बातों से अनभिज्ञ है और संघी प्रचार के प्रभाव में है। उसे लगता है कि सीएए-एनआरसी-एनपीआर का निशाना केवल मुसलमान आबादी बनेगी। चूंकि हमारे देश में सेक्युलर मूल्यों की पहले से ही कमी है और साथ ही राजनीतिक वर्ग चेतना का स्तर भी निम्न है, इसलिए ऐसी आबादी दंगों की सक्रिय समर्थक न होने के बावजूद यह सोचकर ख़ामोश है कि चूंकि वह निशाना नहीं बनने वाली है, इसलिए उसे सीएए-एनआरसी का विरोध करने या विरोध कर रहे प्रदर्शनों में शामिल होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए आज के आन्दोलन की सबसे पहली समस्या यह है कि किस प्रकार इस आबादी में सतत् सेक्युलर मूल्यों का प्रचार किया जाय और विशेष तौर पर उनकी राजनीतिक वर्ग चेतना को बढ़ाया जाये। वास्तव में, ये दोनों बिल्कुल अलग चीज़ें नहीं हैं और राजनीतिक वर्ग चेतना को बढ़ाये बिना सेक्युलर मूल्यों का प्रचार महज़ मानवतावादी उपदेशबाज़ी बनकर रह जाता है, मसलन 'मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना', 'ईश्वर-अल्लाह तेरो नाम', वगैरह। कई बार ऐसे भजन सुनकर जो तात्कालिक तौर पर भावुक हो जाते हैं, वे एक अन्य प्रकार के भावुकतावादी उन्माद में बहकर दंगों और साम्प्रदायिक हिंसा में भी भागीदारी करते हैं। इसलिए ऐसा मानवतावादी प्रचार सही मायनों में वर्ग एकजुटता क़ायम करने और जन समुदायों को सही मायने में सेक्युलर बनाने के लिए हास्यास्पद हदों तक नाकाफ़ी है।

यह समझना ज़रूरी है कि फ़ासीवाद का सामाजिक आधार क्या है। आर्थिक संकट के नतीजों की ज़िम्मेदारी से पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग को बचाने के लिए व्यापक निम्न व मध्यवर्गीय आबादी के समक्ष फ़ासीवाद एक 'नकली दुश्मन' पैदा करता है। आज जब देश की आम जनता महँगाई और बेरोज़गारी से बिलबिला रही है, तो इस समय इस बदहाली का ठीकरा फोड़ने के लिए कोई नकली दुश्मन पैदा करने की ज़रूरत है। ऐसे दुश्मन के तौर पर हमेशा किसी अल्पसंख्यक समुदाय को ही पेश किया जाता है। जर्मनी के नात्सियों ने यहूदियों को 'दुश्मन' के तौर पर पेश किया था और उन्हें 'राष्ट्र के ग़द्दारों' की संज्ञा दी थी और भारत में हिन्दुत्व फ़ासीवादी संघ परिवार ने इस भूमिका में हमेशा से मुसलमानों को पेश किया है। सीएए-एनआरसी का मसला इसीलिए उछाला गया है कि साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरपन्थ की लहर पैदा की जा सके और फ़ासीवादी मंसूबों में कामयाबी हासिल की जा सके, यानी कि टटपुँजिया वर्गों की अन्धी प्रतिक्रिया को एक नकली दुश्मन के ख़िलाफ़ जागृत करके पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा की जा सके।

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी संघ परिवार और और मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता अपने इन मंसूबों में कामयाब न हो सके इसके लिए ज़रूरी है कि व्यापक मेहनतकश अवाम, विशेषकर बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय के मज़दूरों और मेहनतकशों को उनके ज़िन्दगी की बर्बादी और अनिश्चितता के असली कारणों के बारे में बताया जाये। उन्हें यह बताया जाये कि उनका असली शत्रु कौन है। उन्हें समझाया जाये कि लड़ना किसके विरुद्ध है। उन्हें दिखलाया जाये कि धार्मिक अल्पसंख्यक या दलित उनके दुश्मन नहीं हैं, बल्कि उनका बड़ा मेहनतकश हिस्सा तो उनका वर्ग-मित्र है। इसके लिए क्रान्तिकारी शक्तियों को एक ओर शाहीन बाग़ जैसे प्रदर्शनों को अधिक से अधिक लम्बे समय के लिए जारी रखने का प्रयास करना होगा, वहीं इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण काम अब यह है कि संघ परिवार से भी ज़्यादा बड़े पैमाने पर क्रान्तिकारी, प्रगतिशील और जनवादी शक्तियाँ गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले तक अपनी बातों को पहुँचाएँ और जनसमुदायों को यह समझाएँ कि उनके दोस्त कौन हैं और दुश्मन कौन। क्या आज इस कार्यभार को भारत की क्रान्तिकारी, प्रगतिशील और जनवादी शक्तियाँ सन्तोषजनक रूप से कर पा रही हैं?

यहीं से हम मौजूदा आन्दोलन की कुछ चुनौतियों और कार्यभारों के बारे में संक्षेप में अपनी बात रखेंगे।

शाहीन बाग़ को जारी रखना होगा! लेकिन अब सिर्फ़ इतना काफ़ी नहीं है!

शाहीन बाग़ का आन्दोलन एक यादगार और एक हद तक ऐतिहासिक आन्दोलन बन चुका है। यही वजह है कि पूरे देश में सैंकड़ों जगहों पर शाहीन बाग़ की तर्ज़ पर धरने शुरू हुए और उनमें से कई तमाम दमन झेलने के बाद अभी भी जारी हैं। यह अपने आप में बताता है कि शाहीन बाग़ एक ऐतिहासिक प्रोटेस्ट बन चुका है और नागरिकता संशोधन क़ानून और नागरिकता रजिस्टर के विरुद्ध जारी जनान्दोलन का एक प्रतीक बन चुका है। इस प्रतीक को निश्चित तौर पर बचाया जाना चाहिए, इसे जारी रखा जाना चाहिए और हर प्रकार के राजकीय दमन का मुक़ाबला करते हुए इसे क़ायम रखा जाना चाहिए। आन्दोलन के पहले चरण में इस आन्दोलन की ज़बर्दस्त भूमिका थी क्योंकि इसने पूरे देश के लिए ही सीएए-एनआरसी को एक मसला बना दिया, उसके प्रति एक जागरूकता पैदा की, उसके ख़तरों की ओर इशारा किया, यह दिखलाया कि यह विशेष तौर पर मुसलमान मेहनतकश अवाम को और आम तौर पर सारे ही मेहनतकश अवाम को निशाना बनाने वाली साज़िशें हैं। इस रूप में आन्दोलन के पहले चरण में यही प्रमुख कार्यभार था कि इस प्रकार के धरना प्रदर्शनों को पूरे देश में आयोजित किया जाये और जब तक कि सरकार सीएए-एनआरसी को वापस न ले ले, तब तक इन प्रदर्शनों को जारी रखा जाय। लेकिन आज आन्दोलन एक अगले चरण में प्रवेश कर चुका है। इस चरण की विशेषता क्या है?

शाहीन बाग़ और शाहीन बाग़ जैसे धरना प्रदर्शनों के पूरे देश में कई स्थानों पर शुरुआत के बाद संघ परिवार भी चुप नहीं बैठा रहा है। उसने अपने व्यापक ताने-बाने का इस्तेमाल करते

(पेज 14 पर जारी)

असम में समस्या प्रवासी नहीं
नफ़रत के बीज बोने वाले क्षेत्रीय और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग और उनकी पार्टियाँ हैं

– आनन्द

नागरिकता संशोधन विधेयक (सीएए) के ख़िलाफ़ देशभर में सबसे उग्र विरोध असम में हो रहा है। लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि असम में यह विरोध सीएए के साम्प्रदायिक व ग़ैरजनवादी स्वरूप की वजह से नहीं हो रहा है। यह विरोध इस आधार पर नहीं हो रहा है कि सीएए में मुस्लिमों को नहीं शामिल किया गया है, बल्कि इस आधार पर हो रहा है कि सीएए असम समझौते के ख़िलाफ़ जाता है जिसमें असम में 1971 के बाद आये सभी आप्रवासियों को खदेड़ने की बात कही गयी थी। इसलिए असम में चल रहे इन विरोध-प्रदर्शनों का अनालोचनात्मक महिमामण्डन करने की बजाय इसके पीछे की राजनीति और विचार को समझने की ज़रूरत है और उसके लिए हमें असम में आप्रवासन के इतिहास को समझना होगा।

असम के समाज में टकराव और आप्रवासन का इतिहास

लगभग सवा तीन करोड़ की आबादी वाला असम तीन भौगोलिक क्षेत्रों – उत्तर में ब्रह्मपुत्र घाटी, दक्षिण में बराक घाटी और कार्बी आंगलोंग व दीमा हसाओ नामक पहाड़ी क्षेत्र – में बँटा है। असम के समाज में अहोम लोग प्रभुत्वशाली स्थान पर हैं। अहोमों के अलावा तमाम नृजातीय और कबीलियाई समूह भी असम के विभिन्न क्षेत्रों में रहते हैं, मसलन बोडो, कार्बी, लालूंग, सुतिया, मरान, मटक, दिमासा, राभा, तिवा, मिसिंग, ताई, कुकी इत्यादि। असम में कई नृजातीय समूहों को प्रशासनिक स्वायत्तता मिलने की वजह से उनके भीतर से भी प्रभुत्वशाली शासक वर्ग पैदा हुआ है। इसके अलावा असम में अप्रवासी आबादी भी अच्छी-ख़ासी तादाद में है जिसमें अधिकांश लोग पूर्वी बंगाल (मौजूदा बांग्लादेश) से पलायन करके आये हैं। वैसे मूलनिवासी और बाहरी के इस टकराव में ग़ौर करने वाली बात यह है कि आज असमिया राष्ट्रवाद का झण्डाबरदार बने अहोम लोग स्वयं असम के मूलनिवासी नहीं हैं क्योंकि वे मूलत: चीन के येनान प्रान्त के निवासी थे जहाँ से वे पलायन करके पहले बर्मा (वर्तमान म्यांमार) गये और 13वीं सदी में बर्मा से पलायन करके असम में आये थे।

असम में विभिन्न नृजातीय और भाषायी समुदायों के संश्लेषण से जहाँ एक ओर असमिया राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है वहीं दूसरी ओर असम की इस जटिल सामाजिक संरचना में कई क़िस्म के टकराव मौजूद हैं, मसलन असमिया और बंगाली भाषा बोलने वालों के बीच का टकराव, विभिन्न नृजातीय एवं कबीलियाई समूहों के बीच का टकराव और साम्प्रदायिक टकराव। लेकिन स्थानीय निवासियों और आप्रवासियों के बीच का टकराव सबसे हिंसक रूप अख़्तियार करता आया है। स्थानीय निवासियों और आप्रवासियों के बीच के इस टकराव के बढ़ते साम्प्रदायिकीकरण की वजह से आप्रवासी बंगाली मुस्लिमों की ज़िन्दगी सबसे ज़्यादा जोखिमभरी हो गयी है। भारत के पूँजीपति वर्ग ने असम के समाज में मौजूद इन दरारों का फ़ायदा समय-समय पर अपने हित में उठाया है।

असम में पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) से आप्रवासन का एक लम्बा इतिहास रहा है। ग़ौरतलब है कि असम और वर्तमान बांग्लादेश के बीच 267 किलोमीटर लम्बी सरहद है जो असम में आप्रवासन को आसान बनाती है। पूर्वी बंगाल के अलावा असम में बिहार, पश्चिम बंगाल और नेपाल से आप्रवासन होता आया है। आधुनिक काल में असम में आप्रवासन की शुरुआत 1826 में असम पर ब्रिटिश क़ब्ज़े के बाद शुरू हुई। सबसे पहले असम के चाय बग़ानों में काम करने के लिए बिहार से मज़दूर ले जाये गये क्योंकि स्थानीय असमिया भूस्वामी चाय बग़ानों में काम करने को तैयार नहीं थे। उसके बाद अंग्रेज़ों ने प्रशासनिक व न्यायिक तंत्र में क्लर्क, जज और कलेक्टर का काम करने के लिए पढ़े-लिखे बंगाली हिन्दुओं को असम में लाया क्योंकि स्थानीय असमिया आबादी में ये हुनर नहीं थे। 20वीं सदी की शुरुआत तक असम में लगभग सभी डॉक्टर, वकील, शिक्षक और पत्रकार प्रवासी बंगाली हिन्दू थे। इन प्रवासियों के दबदबे की वजह से 1947 तक असम की आधिकारिक भाषा असमिया नहीं बल्कि बंगाली थी क्योंकि प्रवासियों ने अंग्रेज़ों को यह यक़ीन दिला दिया था कि असमिया बंगाली की ही बोली है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में असम में पूर्वी बंगाल से मुस्लिम किसानों का आप्रवासन शुरू हुआ। बंगाली मुस्लिम किसानों की पहली खेप 1914 में ब्रह्मपुत्र के मैदानों में ख़ाली पड़ी ज़मीन पर खेती करने के लिए आयी। उसके बाद पूरे औपनिवेशिक काल में बंगाली मुस्लिमों का आप्रवासन जारी रहा। 1942 में सादुल्ला के नेतृत्व वाली मुस्लिम लीग सरकार ने भारी संख्या में बंगाली मुस्लिमों के असम में आप्रवासन को प्रोत्साहित किया। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में हुए इस आप्रवासन से असम की जनसांख्यिकी में भारी बदलाव हुआ। 1911 में असम की आबादी में मुस्लिमों का हिस्सा 16 प्रतिशत था जो 1931 में 23 प्रतिशत और 1951 में 25 प्रतिशत हो गया। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह है कि यह आप्रवासन भारत के विभाजन के पहले ब्रिटिश राज में हुआ था। 1947 में भारत के विभाजन के समय भी बड़ी संख्या में बंगाली हिन्दुओं ने पूर्वी बंगाल से असम में पलायन किया। उसके बाद 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बांग्लादेश के जन्म के समय भी बड़े पैमाने पर असम में आप्रवासन हुआ। असम में बंगाली प्रवासियों के ख़िलाफ़ पूर्वाग्रह और विद्वेष की भावना पहले से ही थी, 1970 के दशक के अन्त तक आते-आते वहाँ ऑल आसाम स्टूडेण्ट्स यूनियन (आसू) जैसे क्षेत्रीय संगठनों के नेतृत्व में प्रवासियों को वोटिंग का अधिकार देने के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खड़ा होता है। असम आन्दोलन के नाम से जाने जाने वाले इस आन्दोलने ने प्रवासियों के प्रति नफ़रत को अभूतपूर्व स्तर तक बढ़ाने का काम किया जिसकी परिणति 1983 में नेल्ली के भीषण नरसंहार के रूप में होती है। 1983 में असम समझौता होता है जिसके तहत 1971 के बाद आये प्रवासियों की शिनाख़्त करके उनको देश से निकालने की बात कही गयी।

असम में अवैध आप्रवासन की वास्तविक स्थिति

असम की राजनीति में प्रवासी-विरोधी एजेण्डे को हवा देने के लिए आप्रवासियों की संख्या को बढ़ाचढ़ाकर पेश किया जाता रहा है। संघ परिवार ने इस एजेण्डे को साम्प्रदायिक रंग देते हुए पूरे देश में फैला दिया है। पिछले साल लोकसभा चुनाव के पहले अमित शाह ने एक चुनावी सभा को सम्बोधित करते हुए अवैध आप्रवासियों को घुसपैठिया क़रार देते हुए उनकी तुलना दीमक से की। एनआरसी की अन्तिम सूची प्रकाशित होने से पहले संघ परिवार यह दावा करता फिरता था कि असम में कम से कम 40 लाख घुसपैठिये हैं जिन्हें एक-एक करके खदेड़ा जायेगा। ग़ौरतलब है कि घुसपैठियों से उनका मतलब बंगाली मुस्लिमों से था क्योंकि बंगाली हिन्दुओं को वे घुसपैठिया नहीं बल्कि शरणार्थी समझते हैं। लेकिन एनआरसी की मनमानी और दोषपूर्ण प्रक्रिया के बावजूद अन्तिम सूची में 19 लाख लोगों का नाम नहीं आया जोकि 40 लाख के आधे से भी कम है। ग़ौरतलब है कि वास्तव में अवैध आप्रवासियों की संख्या 19 लाख से बहुत कम होगी जिनमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जो कई पीढ़ियों से असम में रह रहे हैं। इन 19 लाख लोगों में भी 13 लाख से अधिक हिन्दू हैं। ज़ाहिर है कि संघ परिवार द्वारा घुसपैठियों की संख्या के बारे में फैलाये जा रहे झूठ को भाजपा सरकार द्वारा करायी गयी एनआरसी की प्रक्रिया ही बेनकाब कर देती है।

असम में क्षेत्रीय राष्ट्रवादी ताक़तें (जिनके प्रतिनिधि कांग्रेस, भाजपा और असम गण परिषद जैसी पार्टियों में मौजूद हैं) और यहाँ तक कि नृजातीय समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाली ताक़तें भी सत्ता में बने रहने के लिए असम में आप्रवासियों की संख्या को बढ़ाचढ़ाकर प्रस्तुत करके उनका हौव्वा खड़ा करती आयी हैं। आज़ादी के बाद हुए पूँजीवादी विकास के तहत तमाम परियोजनाओं से बड़े पैमाने पर विस्थापित हुई आदिवासी आबादी भी अपनी तबाही के लिए आप्रवासियों को ज़िम्मेदार मानने लगी है जिसकी वजह से आप्रवासियों के जीवन का जोखिम बढ़ता जा रहा है।

सच तो यह है कि असम में रहने वाले अधिकांश आप्रवासी 1971 से पहले पलायन करके आये थे। जनगणना के आँकड़े और कई स्वतंत्र अध्ययन भी यह साबित करते हैं कि असम सहित पूरे देश में घुसपैठियों की बाढ़ आ जाने की बात पूरी तरह से अफ़वाह है। 2001 की जनगणना में भारत में रहने वाले किन्तु देश से बाहर पैदा हुए लोगों की संख्या 62 लाख थी जो 2011 में घटकर 53 लाख रह गयी, यानी आप्रवासन दर बढ़ी नहीं है बल्कि 0.6 से घटकर 0.4 प्रतिशत रह गयी है। ग़ौरतलब है कि अमेरिका और पश्चिम यूरोप के मुल्क़ों में आप्रवासन दर 10-15 प्रतिशत है। जनगणना के आँकड़े यह भी दिखाते हैं कि बांग्लादेश से भारत में पलायन करने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ने की बजाय कम हो रही है। इसकी वजह यह है कि बांग्लादेश और नेपाल जैसे देशों से अब लोग भारत की बजाय खाड़ी के देशों और यूरोप के मुल्क़ों में जाना पसन्द कर रहे हैं।

क्या आप्रवासन की वजह से वाक़ई असमिया संस्कृति और भाषा ख़तरे में आ गयी है?

असम की क्षेत्रीय राष्ट्रवादी ताक़तों और नृजातीय समूहों के प्रतिनिधियों ने वहाँ के लोगों में यह भय पैदा कर दिया है कि असम में आप्रवासन की वजह से उनकी आजीविका के साथ ही साथ उनकी संस्कृति और भाषा पर संकट आ गया है। यह दावा भी ठोस यथार्थ से मेल नहीं खाता है। सच तो यह है कि असम में कई सदियों से हुए आप्रवासन की वजह से वहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास में मदद मिली है और इस प्रक्रिया में वहाँ की संस्कृति और भाषा भी समृद्ध हुई है।

असम में बंगाली प्रवासियों ने ब्रह्मपुत्र के मैदानों में चार-चपोरी नामक ख़ाली पड़े क्षेत्रों की ज़मीन पर खेती करनी शुरू की और खेती की बेहतर तकनीक विकसित की, उन्होंने असम में बहुफ़सली खेती की व्यवस्था भी शुरू की तथा फ़सलों की विविधता बढ़ायी। आदिवासियों द्वारा अपनायी जा रही झूम खेती के बरक्स प्रवासियों ने व्यवस्थित खेती की शुरुआत की जिससे कृषि की उत्पादकता में भारी बढ़ोतरी हुई। यह प्रवासियों द्वारा की गयी मेहनत का ही नतीजा था कि 1947 तक असम में धान की बेशी पैदावार हो गयी।

असम में भाषा का मामला पेचीदा है। वहाँ असमिया और बंगाली के अलावा विभिन्न आदिवासी और नृजातीय समूहों की अपनी अलग-अलग भाषाएँ हैं। जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, आज़ादी के पहले असम के मध्यवर्ग में बंगालियों के प्रभुत्व की वजह से वहाँ की आधिकारिक भाषा बंगाली थी। आज़ादी के बाद हुए आन्दोलनों के बाद असमिया को असम की आधिकारिक भाषा का दर्जा मिला, हालाँकि बराक घाटी में अभी भी आधिकारिक भाषा बंगाली ही है क्योंकि वहाँ बंगाली लोगों की बहुतायत है। ग़ौरतलब है कि 1960 के दशक में असमिया को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाने के लिए चले आन्दोलनों के चलते असम में प्रवासी बंगाली मुस्लिम तथा विभिन्न आदिवासी व नृजातीय समूह भी अपनी मातृभाषा असमिया बताने लगे, जबकि बंगाली हिन्दू उसके बाद भी अपनी मातृभाषा बताते रहे। कई प्रेक्षकों ने यह दिखाया है कि 1980 के दशक में प्रवासी विरोधी आन्दोलन के शुरू होने के पहले असम में प्रवासी बंगाली मुस्लिम अपने बच्चों को असमिया माध्यम के स्कूलों में भेजते थे जबकि ख़ुद अहोम लोग अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में भेजते थे। ज़ाहिर है कि असम में बंगालियों का आप्रवासन अपने आप में असमिया भाषा के लिए ख़तरा नहीं पैदा कर रहा है। अगर हाल के वर्षों में असमिया भाषा बोलने वालों की संख्या में वृद्धि की रफ़्तार कम हुई है तो उसकी वजह यह है कि 1980 में प्रवासी विरोधी आन्दोलन के बाद प्रवासी बंगाली मुस्लिम अपनी मातृभाषा असमिया की बजाय बंगाली बताने लगे। इसी तरह असम के तमाम आदिवासी और नृजातीय समूहों ने भी 1990 के दशक के बाद हुए शासकीय और प्रशासकीय विकेन्द्रीयकरण के दौर में अपनी मातृभाषा असमिया बोलना छोड़ दिया है। अगर असमिया संस्कृति और भाषा को वास्तव में किसी चीज़ से ख़तरा है तो वह पूँजीवादी विकास से पैदा हुई तबाही और सामाजिक बिखराव से ख़तरा है।

आप्रवासन के प्रति मज़दूर वर्गीय नज़रिया

असम में जिन प्रवासियों को विदेशी और घुसपैठिया कहकर प्रताड़ित करते हुए फ़ॉरेनर्स ट्रिब्यूनल के सामने पेश होने पर मजबूर किया जा रहा है वे बेहद ग़रीब और मेहनतकश लोग हैं। ऐसे में मज़दूर वर्ग से सरोकार रखने वाले किसी भी शख़्स की सहज सहानुभूति इन मेहनतकशों के प्रति होगी। सर्वहारा

(पेज 11 पर जारी)

सीएए–एनआरसी–एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को हिन्दुत्व फ़ासीवाद–विरोधी आन्दोलन की शक्ल दो!

(पेज 12 से आगे)

हुए देश भर में करोड़ों लोगों के बीच व्हाट्सएप्प और फ़ेसबुक के ही ज़रिये नहीं बल्कि घर-घर जाकर भी झूठा प्रचार किया है। इसमें मुख्य बात यह है कि इन सभी प्रदर्शनों को संघी प्रचारक "मुसलमान प्रदर्शन" और "पाकिस्तान-परस्त लोगों" का प्रदर्शन बता रहे हैं। वे बता रहे हैं कि ये प्रदर्शन "देशद्रोही मुसलमान" पाकिस्तान के इशारों पर कर रहे हैं, जो "खाते तो इस देश का हैं और सेवा पाकिस्तान की करते हैं"; ये संघी प्रचारक बता रहे हैं कि सीएए-एनआरसी के ज़रिये "मोदी जी मुसलमानों को सबक़ सिखा रहे हैं" और सीएए-एनआरसी के ज़रिये "भारत हिन्दू राष्ट्र बन जायेगा और फिर सारी समस्याएँ ख़त्म हो जायेंगी क्योंकि ये सारी समस्याएँ मुसलमानों की वजह से हैं"। यही वह संघी बकवास और झूठों का प्रचार है जिसके ज़रिये राजनीतिक चेतना से वंचित, अपढ़ और अज्ञानी हिन्दू टटपुँजिया आबादी को इन प्रदर्शनों के ख़िलाफ़ भड़काया जा रहा है। साथ ही, फ़ासीवादी प्रशासन, पुलिस बल और न्यायपालिका के ज़रिये भी इन्हें इस बहाने से कुचलने का प्रयास किया जा रहा है कि इन प्रदर्शनों की वजह से "लोगों को असुविधा हो रही है" जबकि सच्चाई बिल्कुल उल्टी है : लोगों को असुविधा हुई है इसीलिए तो वे महीनों से सड़कों पर ठण्ड-गर्मी झेलते हुए बैठे हैं! लेकिन यह सच्चाई होने के बावजूद लोगों तक नहीं पहुँच पा रही है। शाहीन बाग़ आन्दोलन, यानी शाहीन बाग़ की तर्ज़ पर शुरू हुए अनिश्चितकालीन धरनों का आन्दोलन बेहद अहम है, लेकिन अब यह ज़रूरी हो गया है कि इसे जारी रखते हुए हम धरना स्थलों से आगे जायें और गली-मुहल्लों में उस हद से भी ज़्यादा पहुँचें जिस हद तक संघ परिवार के फ़ासीवादी प्रचारक पहुँच रहे हैं।

यही कार्यभार आन्दोलन के इस अगले चरण में हमारे कार्यों की विशेषता और मुख्य केन्द्र को निर्धारित करता है। **यानी, शाहीन बाग़ आन्दोलन को जारी रखो! शाहीन बाग़ आन्दोलन को जारी रखते हुए धरना स्थल से आगे जाओ! गाँवों और शहरों के गली-मुहल्लों तक पहुँचो और जनता को यह सच्चाई बताओ कि सीएए-एनआरसी केवल मुसलमानों के ख़िलाफ़ नहीं है, बल्कि समूची मेहनतकश जनता के ख़िलाफ़ है।** संघ परिवार के झूठे प्रचार का क़दम-क़दम पर मुक़ाबला करो और उसे मात दो। यह बात समझना बहुत मुश्किल नहीं है क्योंकि असम में एनआरसी का उदाहरण पूरे देश के सामने है जिसमें कि उन 19 लाख लोगों में 13.5 लाख लोग मुसलमान नहीं बल्कि हिन्दू निकले, जिनकी कि नागरिकता छीन ली गयी। वहाँ के डिटेंशन सेन्टरों के मुसलमानों से ज़्यादा हिन्दू हैं और उनमें मरने वालों में भी आधे हिन्दू हैं। क्या आपको पता है कि यह सच्चाई करोड़ों-करोड़ ग़ैर-मुसलमान आबादी के टटपुँजिया व मेहनतकश वर्गों को पता ही नहीं है? इस आबादी को अगर इस सच्चाई से अवगत कराया जाये, तो फ़ासीवादी झूठे प्रचार को बिल्कुल नाकामयाब बनाया जा सकता है।

अगर देश की क्रान्तिकारी व प्रगतिशील-जनवादी शक्तियाँ यह काम करने में नाकामयाब रहती हैं, तो यदि शाहीन बाग़ आन्दोलन जारी भी रहता है, तो फ़ासीवादी शक्तियों की फ़ौरी हार और हमारी फ़ौरी जीत बेहद मुश्किल होगी। हम यदि धरना स्थलों तक सीमित रहे और इलाक़ों में, नुक्कड़-चौराहों पर, बाज़ारों में, गली-मुहल्लों में नहीं पहुँचते हैं, तो पूरे देश के पैमाने पर बहुसंख्यक समुदाय में जो आम राय निर्मित होगी, वह यदि सीधे-सीधे फ़ासीवाद की सक्रिय पक्षधर न भी हो, तो ग़लत कारणों से और अज्ञान के चलते सीएए-एनआरसी का समर्थन करेगी। यह मौजूदा आन्दोलन के लिए घातक होगा। लेकिन इस कार्यभार को पूरा करते हुए हमें आन्दोलन को केवल सीएए-एनआरसी पर नहीं सीमित रखना होगा, बल्कि सीएए-एनआरसी को अभी लाने के पीछे की असल फ़ासीवादी साज़िश को भी बेनक़ाब करना होगा। इसके लिए हमें निम्न कार्य करना होगा।

इस आन्दोलन को सभी असल मुद्दों को समेटते हुए एक फ़ासीवाद-विरोधी जनान्दोलन में तब्दील करो!

व्यापक जनसमुदायों के बीच झूठे फ़ासीवादी प्रचार को बेनक़ाब करने और सीएए-एनआरसी की सच्चाई से उन्हें अवगत कराने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों को इस बात से अवगत कराना चाहिए कि सीएए-एनआरसी की साज़िश की इस समय शुरुआत करने के पीछे संघ परिवार की असली मंशा क्या है। यह मंशा वास्तव में आर्थिक संकट, बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, और उससे पैदा हुए सामाजिक संकट पर से आम जनता का ध्यान भटकाना और उन्हें साम्प्रदायिक उन्माद की लहर में बहाना है। इसका सही जवाब यही हो सकता है कि जो वास्तविक मुद्दे हैं उन्हें जनता के लिए भी बुनियादी मुद्दा बनाया जाये। केवल इसी के ज़रिये फ़ासीवादी प्रचार तंत्र द्वारा फैलाये जा रहे झूठ और उन्माद को शिकस्त दी जा सकती है।

इसलिए सीएए-एनआरसी के ख़तरों को बताते हुए जनता को यह भी बताना होगा कि यह शिगूफ़ा इस समय उछाला ही क्यों गया है। इसकी असली वजह को बताकर ही जनता को समूची फ़ासीवादी योजना के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है और उसकी मुख़ालफ़त के लिए तैयार किया जा सकता है। यानी कि व्यापक जनसमुदायों को बेरोज़गारी के सवाल पर रोज़गार गारण्टी की माँग पर संगठित करना होगा, निजीकरण के विरुद्ध संगठित करना होगा, और संघ-परिवार की देशभक्ति की नौटंकी के ख़िलाफ़ जागरूक बनाना होगा और गोलबन्द करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें मौजूदा सीएए-एनआरसी विरोधी समूचे आन्दोलन को व्यापक बनाते हुए उन तमाम मुद्दों को इसमें शामिल करना होगा जो कि मोदी सरकार की फ़ासीवादी नीतियों की पैदावार हैं, यानी बेरोज़गारी, महँगाई, और आर्थिक मन्दी। हमें मौजूदा आन्दोलन को महज़ एक क़ानून के विरोध तक सीमित न रखकर इसे आम फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन में तब्दील करना होगा। संघर्ष का एजेण्डा हमें निर्धारित करना होगा न कि हमें यह मौक़ा देना होगा कि संघर्ष का एजेण्डा मोदी सरकार निर्धारित करे। संघर्ष में जीत के लिए ज़रूरी पहला क़दम आम तौर पर ही यह होता है कि संघर्ष का एजेण्डा हम निर्धारित करें न कि दुश्मन को करने दें।

सीएए-एनआरसी-एनपीआर को कामयाब बनाने से रोकने के लिए हमें जनता के जीवन को वास्तविक रूप में प्रभावित करने वाले असल मुद्दों को एजेण्डा बनाना होगा और इसी के आधार पर हम जनता के व्यापक जनसमुदायों को 1 अप्रैल से शुरू होने वाले एनपीआर की प्रक्रिया के बहिष्कार के लिए तैयार कर सकते हैं। तात्कालिक तौर पर, हमारा कार्यभार यही है।

तात्कालिक तौर पर, एनपीआर की प्रक्रिया को नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के ज़रिये नाकामयाब बनाओ!

हमारा तात्कालिक कार्यभार यही है कि हम नागरिक अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) के आन्दोलन को कामयाब बनायें जिसके ज़रिये एनपीआर की प्रक्रिया का जनबहिष्कार किया जा सके। हमें इसके लिए देश भर में जहाँ तक भी हम पहुँच सकते हैं, वहाँ तक गली-गली और मुहल्लों-मुहल्लों में व्यापक जनता को सीएए-एनआरसी-एनपीआर के ख़तरों से अवगत कराना होगा, यह बताना होगा कि ये साज़िश किस प्रकार मोदी सरकार ने जनता के जीवन को प्रभावित करने वाले असली मुद्दों से जनता का ध्यान भटकाकर उन्हें साम्प्रदायिकता की लहर में बहाने के लिए की है, किस प्रकार हमारे जीवन के सबसे प्रमुख मुद्दे बेरोज़गारी, महँगाई, महँगी होती चिकित्सा, शिक्षा और आवास हैं, और किस प्रकार इन माँगों पर कारगर तौर पर लड़ने के लिए हमारी मूल माँग ही यह है : नागरिकता संशोधन क़ानून नहीं, हमें रोज़गार गारण्टी क़ानून चाहिए! जनसंख्या रजिस्टर और नागरिकता रजिस्टर नहीं हमें बेरोज़गारों का रजिस्टर चाहिए!! यदि मौजूदा सरकार यह नहीं दे सकती तो उसे सरकार बने रहने का कोई हक़ नहीं है।

इन्हीं माँगों को लेकर और एनआरसी-एनपीआर को नकारने के लिए हमारा पहला क़दम होना चाहिए देश भर में एक सिविल नाफ़रमानी का आन्दोलन खड़ा करना और एनपीआर की प्रक्रिया का पूर्ण बहिष्कार करना। इसके लिए कार्यकर्ताओं और वॉलण्टियरों की टीमों को हरेक शहर और गाँव की गली-गली तक जाना होगा, उन्हें सच्चाई बतानी होगी और उन्हें बहिष्कार के लिए तैयार करना होगा। तैयार लोगों की बहिष्कार कमेटियाँ बनानी होंगी जो कि आगे रोज़गार और शिक्षा तथा अन्य जन-अधिकारों के लिए संघर्ष के लिए भी जनकमेटियों का काम करें। इस काम को जल्द से जल्द बिना किसी देरी के शुरू करना होगा।

सत्याग्रह, असहयोग या नागरिक अवज्ञा का अर्थ गांधीवादी बन जाना नहीं होता है! संघर्ष के ये रूप आम मेहनतकश जनता की रचनात्मकता की ऐतिहासिक विरासत के अंग हैं!

कुछ लोगों को लगता है कि यदि हम अपने संघर्षों में जन असहयोग, नागरिक अवज्ञा, सत्याग्रह आदि जैसे रूपों को इस्तेमाल करते हैं, तो यह "गांधीवादी" रूपों को अपनाने और गांधीवाद के समक्ष समर्पण है। इससे ज़्यादा मूर्खतापूर्ण बात और कोई नहीं हो सकती है। इसके दो कारण हैं : पहला तो यह कि ऐसी दलील पेश करने वाले लोगों को यह नहीं पता है कि संघर्ष के इन रूपों का गांधी ने बुर्जुआ राष्ट्रवाद के भारतीय संस्करण के वर्गीय दायरों के भीतर कुशल उपयोग ज़रूर किया था, लेकिन ये रूप स्वयं गांधी ने ईजाद नहीं किये थे, न ही उनके दार्शनिक शिक्षकों जैसे कि थोरो, तोलस्तोय आदि ने ईजाद किये थे। सच्चाई तो यह है कि इन रूपों का इस्तेमाल बहुत पहले से ही जनता अपने संघर्षों में करती रही है, गांधी के जन्म से भी पहले से। मिसाल के तौर पर, स्त्री मताधिकार आन्दोलन, जिसकी अगुवाई में मज़दूर औरतों की प्रमुख भूमिका रही थी, में संघर्ष के इन रूपों का शानदार तरीक़े से इस्तेमाल किया गया। चार्टिस्ट आन्दोलन के दौरान इंग्लैण्ड के मज़दूरों ने भी इन रूपों को बहुत ही रचनात्मक तरीक़े से इस्तेमाल किया। इसलिए ये रूप कोई "गांधीवादी रूप" नहीं हैं, बल्कि इतिहास में जनता की रचनात्मकता से पैदा हुए संघर्ष के रूप हैं, जिनका इस्तेमाल बहुत-सी विचारधाराओं के लोगों ने किया, और इनमें गांधी भी शामिल हैं, जिन्होंने अपने तरीक़े से इनका इस्तेमाल किया।

दूसरी बात यह है कि संघर्ष के रूप किसी भी संघर्ष में कोई नेतृत्व मनमाने तरीक़े से नहीं कर सकता है। संघर्ष के रूप हर आन्दोलन में उस आन्दोलन की मंज़िल और आन्दोलन में शामिल जनसमुदायों की राजनीतिक वर्ग चेतना और राजनीतिक तैयारी पर निर्भर करते हैं। क्रान्तिकारी हिंसा से प्यार नहीं करते। बल्कि वे मानते हैं कि अन्ततः पूँजीवादी राज्यसत्ता का बलपूर्वक ध्वंस करके ही मज़दूर वर्ग अपनी क्रान्तिकारी सत्ता को क़ायम कर सकता है और एक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण कर सकता है। इसका यह अर्थ नहीं होता है कि किसी भी दिये गये मौक़े पर पार्टी और व्यापक जनसमुदाय सामूहिक क्रान्तिकारी बल प्रयोग के लिए तैयार होते हैं। इसका सिर्फ़ यह अर्थ होता है कि अन्ततः बल प्रयोग के द्वारा ही सर्वहारा सत्ता की स्थापना हो सकती है क्योंकि बल प्रयोग के संगठित उपकरण पूँजीवादी राज्यसत्ता को मज़दूर वर्ग की अगुवाई मेहनतकश जनता के द्वारा संगठित बल प्रयोग से ही तोड़ा जा सकता है। लेकिन मज़दूर वर्ग हमेशा इसके लिए तैयार होता हो, ऐसा सोचना हास्यास्पद है। उस मंज़िल तक पहुँचने के लिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को और क्रान्तिकारी जनान्दोलन को कई चरणों से होकर गुज़रना होता है, जिनमें संघर्ष के वैविध्यपूर्ण रूपों का इस्तेमाल होता है। जैसा कि लेनिन और माओ ने बताया था कि संघर्ष के क़ानूनी और अहिंसक रूपों के इस्तेमाल की सम्भावनाओं के समाप्त होने की प्रक्रिया में ही जनता के व्यापक जनसमुदाय क्रान्तिकारी और संगठित बल प्रयोग के लिए तैयार होते हैं। कोई समझदार से समझदार पार्टी उन्हें मनमाने तरीक़े से जब चाहे इसके लिए तैयार नहीं कर सकती है।

संघर्ष में अहिंसक रूपों के इस्तेमाल से कोई अहिंसावादी नहीं हो जाता है। जब क्रान्तिकारी शक्तियाँ इन अहिंसक रूपों का इस्तेमाल करते हुए शत्रु से लड़ती हैं, तो भी जहाँ कहीं सम्भव हो वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों को सड़क पर बलपूर्वक जवाब देने का कोई अवसर नहीं छोड़ती हैं। लेकिन किन मौक़ों पर संघर्ष के कौन-से रूप अपनाये जायेंगे यह सिद्धान्त का प्रश्न नहीं, बल्कि ठोस संघर्ष के रणकौशल का प्रश्न है। सिद्धान्त के मामले में चट्टान जैसी कठोरता रखते हुए हमें ठोस संघर्ष के रणकौशल के मामले में पूर्ण लचीलापन अपनाना चाहिए।

अन्त में...

अन्त में यह कहना होगा कि आज हमारा यह आन्दोलन जिस चरण में है, उसमें हमारा पहला कार्यभार है देश भर में व्यापक पैमाने पर हर मज़हब के जनसमुदायों को 1 अप्रैल से शुरू हो रही एनपीआर की प्रक्रिया के बहिष्कार के लिए तैयार करना। इसके लिए देश में एक नागरिक अवज्ञा आन्दोलन खड़ा करना ज़रूरी है। पूरे देश में पदयात्राएँ निकालना, सत्याग्रह करना, घर-घर सघन जनसम्पर्क अभियान चलाते हुए जनसमुदायों को सच्चाई से अवगत कराना और उन्हें नागरिक अवज्ञा आन्दोलन में शामिल करने के लिए उनकी जनकमेटियाँ बनाना : यही हमारा तात्कालिक कार्यभार है, जिस पर बिना विलम्ब काम करना शुरू करना होगा।

मक्सिम गोर्की के जन्मदिवस (28 मार्च) के अवसर पर

एक सच्चा सर्वहारा लेखक

दुनिया में ऐसे लेखकों की कमी नहीं, जिन्हें पढ़ाई-लिखाई का मौक़ा मिला, पुस्तकालय मिला, शान्त वातावरण मिला, जिसमें उन्होंने अपनी लेखनी की धार तेज़ की। लेकिन बिरले ही ऐसे लोग होंगे जो समाज के रसातल से उठकर आम-जन के सच्चे लेखक बने। मक्सिम गोर्की ऐसे ही लेखक थे। उनका उपन्यास 'माँ' आज दुनिया की लगभग हर भाषा में पढ़ा जाता है।

28 मार्च 1868 को रूस के वोल्गा नदी के किनारे एक बस्ती में मक्सिम गोर्की का जन्म हुआ। सात वर्ष की उम्र में ही अनाथ हो जाने वाले गोर्की को बहुत जल्दी ही इस सच्चाई का साक्षात्कार हुआ कि ज़िन्दगी एक जद्दोजहद का नाम है। समाज के सबसे ग़रीब लोगों की गन्दी बस्तियों में पल-बढ़कर वह सयाने हुए। बचपन से ही पेट भरने के लिए उन्होंने पावरोटी बनाने के कारख़ाने, नमक बनाने के कारख़ाने (नमकसार) में काम करने से लेकर गोदी मज़दूर, रसोइया, अर्दली, कुली, माली, सड़क कूटने वाले मज़दूर तक का काम किया। समाज के मेहनत करने वाले लोगों, ग़रीब आवारा लोगों, गन्दी बस्तियों के निवासियों के बीच जीते हुए उन्होंने दुनिया की सबसे बड़ी किताब – ज़िन्दगी की किताब से तालीम हासिल की। उन्होंने स्कूल का मुँह तक नहीं देखा था, लेकिन पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे कमरतोड़ मेहनत के बाद भी उन्होंने किसी न किसी को अपना गुरु बनाकर ज्ञान प्राप्त किया। कुछ समय तक उन्होंने महान रूसी लेखक व्लादीमिर कोरोलेंको से लेखन कला सीखी और बहुत जल्दी ही रूस के एक बड़े लेखक बन गये।

पुराने रूसी समाज की कूपमण्डूकता, निरंकुशता और सम्पत्ति सम्बन्धों की निर्ममता ने युवा लेखक अलेक्सेई मक्सिमोविच को इतनी तल्ख़ी से भर दिया था कि उन्होंने अपना नाम "गोर्की" रख लिया, जिसका अर्थ है तल्ख़ या कड़वाहट से भरा। लेकिन उनकी तल्ख़ी दिशाहीन नहीं थी। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार मिखाईल शोलोखोव ने उनके बारे में लिखा है – "गोर्की उन लोगों को प्यार करते थे, जो मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्ष करते थे और अपनी प्रचण्ड प्रकृति की पूरी शक्ति से शोषकों, दुकानदारों और निम्न पूँजीपतियों से नफ़रत करते थे, जो प्रान्तीय रूस के निश्चल दलदल में ऊँघते रहते थे...उनकी पुस्तकों ने रूसी सर्वहारा को ज़ारशाही के ख़िलाफ़ लड़ना सिखाया।"

गोर्की के शुरुआती उपन्यासों 'फ़ोमा गोर्देयेव' और 'वे तीन' के केन्द्रीय चरित्र फ़ोमा और इल्या लुनेव ऐसे व्यक्ति हैं, जो निजी सम्पत्ति पर आधारित समाज के तौर-तरीक़ों को स्वीकारने से इंकार कर देते हैं। लेकिन उनके वास्तविक नायक बीसवीं सदी के आरम्भ में सामने आते हैं, जब रूसी समाज करवट बदल रहा था। 'माँ' उपन्यास ने क्रान्तिकारी सर्वहारा के रूप में साहित्य को एक नया नायक दिया।

गोर्की की बहुत-सी कृतियों में क्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है लेकिन आबादी के सबसे निचले तलों में भी गोर्की विचारों के उफान को, छिपी हुई मानवीय शक्तियों को खोज निकालते हैं। उनके आत्मकथात्मक उपन्यासत्रयी का केन्द्रीय पात्र अपने असंख्य अनुभवों के दौरान इन्हीं उफनते विचारों और छिपी हुई शक्तियों का संचय करता है। उसका चरित्र रूसी यथार्थ में जड़ जमायी हुई बुराइयों तथा सोचने के आम तौर पर व्याप्त ढर्रे के विरुद्ध बग़ावती तेवर अपनाकर विकसित होता है।

गोर्की के समकालीन तोलस्तोय, चेख़व, शोलोख़ोव, सभी उनकी प्रतिभा के उत्कट प्रशंसक थे। रोम्याँ रोलाँ और एच. जी. वेल्स ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। यूरोप और अमेरिका के उन लेखकों ने भी उनकी प्रतिभा का लोहा माना था और उनकी प्रशंसा की थी, जो मार्क्सवादी नहीं थे। रोम्याँ रोलाँ ने स्वीकार किया था कि गोर्की मानवता की अमूल्य धरोहर हैं।

गोर्की ने अपने जीवन और लेखन से सिद्ध कर दिया कि दर्शन और साहित्य विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में पढ़े-लिखे विद्वानों की बपौती नहीं है बल्कि सच्चा साहित्य आम जनता के जीवन और लड़ाई में शामिल होकर ही लिखा जा सकता है। उन्होंने अपने अनुभव से यह जाना कि अपढ़, अज्ञानी कहे जाने वाले लोग ही पूरी दुनिया के वैभव के असली हक़दार हैं। आज एक बार फिर साहित्य आम जन से दूर होकर महफ़िलों, गोष्ठियों यहाँ तक कि सिर्फ़ लिखने वालों तक सीमित होकर रह गया है। आज लेखक एक बार फिर समाज से विमुख होकर साहित्य को आम लोगों की ज़िन्दगी की चौहद्दी से बाहर कर रहा है।

पिछले लगभग 15 वर्षों के भीतर जो पीढ़ी समझदार होकर विश्व साहित्य में दिलचस्पी लेने लायक हुई है वह गोर्की के कृतित्व की क्लासिकी गहराई और उनकी महानता से लगभग अपरिचित है। मक्सिम गोर्की का विराट रचना संसार था, लेकिन पूरी दुनिया के साहित्य प्रेमियों का एक बड़ा हिस्सा आज भी उससे अनजान है। उनके कई महान उपन्यास, कहानियाँ, विचारोत्तेजक निबन्ध तो अंग्रेज़ी में भी उपलब्ध नहीं हैं। इस मायने में हिन्दी के पाठक गोर्की के साहित्य से और भी अधिक वंचित रहे हैं। हिन्दी में तो गोर्की के साहित्य का बहुत छोटा हिस्सा ही लोगों के सामने आ सका है।

इधर आम तौर पर साहित्य में जिन चीज़ों का बाज़ार निर्मित हुआ है उसमें गोर्की, शोलोख़ोव जैसे लेखकों का साहित्य वैसे भी समाज-बहिष्कृत है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से अनभिज्ञता और वैचारिक पूर्वाग्रहों के चलते गोर्की की कालजयी महानता से आज नये पाठक लगभग अपरिचित हैं। इस अनमोल विरासत को पाठकों को उपलब्ध कराने की चुनौती को स्वीकारना होगा। यह हमारे साहित्य और समाज दोनों को नयी ऊष्मा से भर देगा।

हबीब जालिब के जन्मदिवस (24 मार्च) पर उनकी दो नज़्में

हबीब जालिब पाकिस्तान के इन्क़लाबी शायर थे जिन्होंने मेहनतकश अवाम की मुक्ति के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। अपनी धारदार शायरी के ज़रिये उन्होंने पाकिस्तान के तीन फ़ौजी तानाशाहों – जनरल अयूब, याहया और ज़िया – की हुकूमतों की जमकर मुख़ालफ़त की और इसके लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। इन्क़लाबी शायर के साथ ही साथ वे एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे। वे पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और आजीवन मज़दूर वर्ग की मुक्ति की विचारधारा मार्क्सवाद की पैरोकारी करते रहे। हबीब जालिब की नज़्में पाकिस्तान ही नहीं बल्कि समूचे दक्षिण एशिया में मशहूर हैं।

कहाँ क़ातिल बदलते हैं फ़क़त चेहरे बदलते हैं
अजब अपना सफ़र है फ़ासले भी साथ चलते हैं

बहुत कमजर्फ़ था जो महफ़िलों को कर गया वीराँ
न पूछो हाले चाराँ शाम को जब साए ढलते हैं

वो जिसकी रोशनी कच्चे घरों तक भी पहुँचती है
न वो सूरज निकलता है, न अपने दिन बदलते हैं

कहाँ तक दोस्तों की बेदिली का हम करें मातम
चलो इस बार भी हम ही सरे मक़तल[1] निकलते हैं

हमेशा औज पर देखा मुक़द्दर उन अदीबों का
जो इब्नुलवक़्त[2] होते हैं हवा के साथ चलते हैं

हम अहले दर्द ने ये राज़ आख़िर पा लिया 'जालिब'
कि दीप ऊँचे मकानों में हमारे खूँ से जलते हैं

[1] क़त्लगाह की तरफ़
[2] मौक़ापरस्त

बटे रहोगे तो अपना यूँही बहेगा लहू
हुए न एक तो मंज़िल न बन सकेगा लहू

हो किस घमण्ड में ऐ लख़्त लख़्त दीदा-वरो
तुम्हें भी क़ातिल-ए-मेहनत-कशाँ कहेगा लहू

इसी तरह से अगर तुम अना-परस्त रहे
ख़ुद अपना राह-नुमा आप ही बनेगा लहू

सुनो तुम्हारे गरेबान भी नहीं महफ़ूज़
डरो तुम्हारा भी इक दिन हिसाब लेगा लहू

अगर न अहद किया हम ने एक होने का
ग़नीम सब का यूँही बेचता रहेगा लहू

कभी कभी मिरे बच्चे भी मुझ से पूछते हैं
कहाँ तक और तू ख़ुश्क अपना ही करेगा लहू

सदा कहा यही मैंने क़रीब-तर है वो दूर
कि जिस में कोई हमारा न पी सकेगा लहू

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

बेतहाशा बढ़ती बेरोज़गारी और ढपोरशंखी सरकारी योजनाएँ

– मीनाक्षी

सी.एम.आइ.ई. (सेन्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी) की हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ देश के शहरी क्षेत्र में बेरोज़गारी दर ने पिछले 45 सालों के सारे कीर्तिमान तोड़ डाले हैं। दिसम्बर 2019 में यह दर 9 फ़ीसदी थी। जनवरी 2020 तक, महज़ एक महीने में तेज़ रफ़्तार से बढ़ता हुआ यह आँकड़ा 9.9 फ़ीसदी तक जा पहुँचा। केवल 15 से लेकर 29 वर्ष के आयु वाले शहरी नौजवानों के बीच ही बेरोज़गारी की दर देखी जाये तो यह 22.5 फ़ीसद की ऊँचाई तक पहुँच चुकी है। कुल बेरोज़गारी दर में हालाँकि दिसम्बर 2019 के मुक़ाबले जनवरी 2020 में कुछ कमी आयी थी लेकिन यह 7 और 8 फ़ीसदी के बीच बनी रही, जबकि कुल औसत मासिक बेरोज़गारी दर 7.4 पर पहुँच गयी है। शहरी बेरोज़गारी दर में बढ़ोत्तरी ग्रामीण क्षेत्र के मुक़ाबले कहीं अधिक है। ये सारे आँकड़े उन बेरोज़गार नौजवानों को आधार बनाकर जुटाये गये हैं जो काम करने योग्य हैं और काम भी ढूँढ़ रहे हैं। पर देश के वे युवा जो काम करने योग्य हैं लेकिन काम ढूँढ़ ही न रहे हों उन्हें इस गणना में शामिल नहीं किया गया है। जैसेकि वे लड़के-लड़कियाँ जो अभी पढ़ाई कर रहे हैं या वे नौजवान जो कुछ साल काम ढूँढ़ने के बाद आजिज़ आ चुके हों और उन्होंने काम ढूँढ़ना बन्द कर दिया हो, या वे नौजवान जो साल में बमुश्किल कुछ ही दिन काम ढूँढ़ पाते हैं और जैसे-तैसे कुछ करके जीनेभर का थोड़ा-बहुत कमा लेते हैं, या फिर घरेलू औरतें जो घर का सारा कामकाज सँभालती हैं, परन्तु बदले में कोई वेतन नहीं पातीं क्योंकि उनका काम काम की श्रेणी में नहीं आता, उनकी गिनती बेरोज़गारों में नहीं की गयी है। यदि इन सभी लोगों को, यानी भागीदारी के लिए उपलब्ध पूरी श्रमशक्ति को ध्यान में रखकर बेरोज़गारी दर का हिसाब लगाया जाये तो जो आँकड़ा सामने आयेगा वह मौजूदा आँकड़े से कहीं अधिक भयावह होगा। यह यूँ ही नहीं है कि 40 सालों में पहली बार उपभोक्ता खपत में गिरावट दर्ज की गयी है।

अब आइए देखते हैं कि बेरोज़गारी की ऐसी विकराल समस्या को लेकर केन्द्र और राज्य स्तर पर सरकार क्या कहती है, कौन-सी स्कीम पारित करती है और उसके लिए कितना धन आवण्टित करती है। केन्द्र की मोदी सरकार ने हर साल दो करोड़ नौकरी देने का वायदा किया था। लेकिन रोज़गार बढ़ाने के लिए वास्तव में कोई क़दम नहीं उठाया गया। लाखों पद लम्बे समय से ख़ाली पड़े रहे, उन्हें भरने की कोई कोशिश नहीं की गयी। और न ही सरकार की ऐसी कोई मंशा ही दिखी जबकि अकेले केन्द्र में ही अभी 23 लाख से ज़्यादा पद ख़ाली पड़े हैं। उल्टे उन पदों को ही ख़त्म कर दिया गया जो 5 सालों से रिक्त पड़े थे। पहले ख़ाली पदों पर जानबूझकर भर्ती नहीं की गयी, फिर उन्हें समाप्त कर दिया गया, सरकारी फ़रेब का यह एक बेमिसाल नमूना है। अगर सरकार बेरोज़गारी दूर करने से सचमुच कोई वास्ता रखना चाहती तो वैसी योजनाएँ बनाती, बजट में उसके लिए फ़ण्ड रखती। पर वह केवल जुमलों और भाषणों से ज़रूरतमन्दों को सब्ज़बाग़ दिखाने में माहिर है। फ़रवरी 2020 के केन्द्रीय बजट में भी यह बात साफ़ दिखती है कि ज़ुबानी जमाख़र्च करने या कुछेक स्कीम की सतरंगी छटा दिखाने के अलावा रोज़गार के अवसर पैदा करने की दिशा में ठोस कुछ नहीं किया गया है। और ये सतरंगी योजनाएँ क्या हैं? छोटे और मध्यम उद्योगों के बेहतर काम करने के लिए और अधिक सहूलियत-केन्द्रों की स्थापना, मेक इन इण्डिया के तहत विदेशी निवेश, नये निवेशकों को कर में छूट आदि देने की व्यवस्था! ताकि वे आम नौजवानों और मेहनतकशों के बेटे-बेटियों के लिए रोज़गार पैदा करें। यानी बेरोज़गारी के ऊपर चढ़ते ग्राफ़ के बीच अब 4-4, 5-5 हज़ार पर खटने के लिए नौजवानों की पहले से कहीं अधिक भारी तादाद मालिकों को मिल जायेगी। और इधर सरकार अपनी ज़िम्मेदारी से छुटकारा भी पा लेगी। स्वरोज़गार का शोशा भी इसीलिए उछाला गया है। हींग लगे न फिटकरी और रंग चोखा! युवा आबादी को पक्की नौकरी देने के वास्ते कोई ठोस योजना नहीं, कोई फ़ण्ड नहीं, बस लफ़्फ़ाज़ी की गयी है। यहाँ तक कि रोज़गार देने वाली जो योजनाएँ पहले से ही मौजूद थीं, उन्हें भी बर्बाद करने की कोशिश शुरू हो गयी है। बजट में ग्रामीण रोज़गार योजना के मद में सीधे 9,500 करोड़ की कटौती कर दी गयी। इस योजना के तहत गाँव के ग़रीबों को, थोड़ा-बहुत ही सही, जो रोज़गार मनरेगा के ज़रिये मिल जाता है उसके फ़ण्ड को 71001.81 करोड़ से घटाकर 2020-21 में 61,500 करोड़ कर दिया गया है। इससे पता चलता है सरकार बेरोज़गारी को लेकर वास्तव में कितनी गम्भीर है।

राज्यवार भी देखा जाये तो बेरोज़गारी दर में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है। सबसे बुरी स्थिति भाजपा शासित त्रिपुरा, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की है। इसमें उत्तर प्रदेश भी पीछे नहीं है। बेरोज़गारी ने यहाँ तेज़ी से पाँव पसारा है और युवाओं पर इसकी ज़बर्दस्त मार पड़ रही है। आज हालत यह है कि 23 करोड़ की आबादी वाले इस राज्य के लगभग 1.5 करोड़ लोग रोज़गार ढूँढ़ रहे हैं। राज्य में पढ़े-लिखे युवा शहरी बेरोज़गारों की संख्या ही लगभग 34 लाख तक पहुँच चुकी है। ख़ुद योगी सरकार को यह स्वीकार करना पड़ा कि पिछले दो सालों में 12.5 लाख लोग बेरोज़गार हुए हैं। श्रम मंत्री स्वामी प्रसाद मौर्य ने हाल में ही विधान सभा में अपने लिखित जवाब के ज़रिये यह जानकारी दी कि श्रम विभाग के ऑनलाइन पोर्टल में दर्ज नामों के अनुसार 33.93 लाख बेरोज़गार हैं। ज़ाहिर है कि इस आँकड़े में वही शामिल हैं जो पढ़े-लिखे हैं और जिनके नाम दर्ज हैं लेकिन बहुतेरे कम पढ़े-लिखे या अशिक्षित लोग जिनके नाम दर्ज नहीं हैं या जो नाम नहीं दर्ज करा सके हैं वे इस आँकड़े में शामिल नहीं हैं। इस मायने में यह आँकड़ा सही तस्वीर पेश नहीं करता। अन्यथा शिक्षित शहरी बेरोज़गार नौजवानों की संख्या ही 50-55 लाख हो जाती। लेकिन अगर सरकारी आँकड़ों की ही बात की जाये तो भी पिछले दो सालों में बेरोज़गारी 58.53 फ़ीसदी बढ़ गयी है। राष्ट्रीय सांख्यिकी दफ़्तर की रिपोर्ट के अनुसार दिसम्बर 18 में ही प्रदेश के शहरी क्षेत्रों में बेरोज़गारी दर 16 फ़ीसदी थी जो पूरे भारत की 9.9 फ़ीसदी शहरी दर के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा थी। जहाँ तक प्रदेश की कुल औसत बेरोज़गारी का सवाल है सी.एम.आइ.ई. की रिपोर्ट के मुताबिक़ यह 2019 में लगभग दुगनी हो गयी। 2018 के 5.91 फ़ीसदी के मुक़ाबले 2019 में यह छलाँग लगाकर 9.95 तक पहुँच गयी थी। यह लगभग 10 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी थी। यानी 100 लोगों में लगभग 10 लोग बेरोज़गार हो गये थे। नौजवान रोज़गार की तलाश में दिन रात एक कर रहे हैं पर योगी सरकार है कि उसे मन्दिरों और गाय-गोबर से फ़ुरसत नहीं। 2020-21 वित्तीय वर्ष में उसने गाय के लिए 450 करोड़ का बजट रखा है। इसी तरह अयोध्या और काशी मन्दिरों के लिए भी करोड़ों का बजट है। अयोध्या में हवाईअड्डा बनाने के लिए ही 500 करोड़ की राशि जारी की गयी है। लेकिन रोज़गार के लिए योगी सरकार की योजनाएँ ढपोरशंखी हैं जो केवल शोर करती हैं। शिक्षुता प्रोत्साहन योजना और युवा उद्यमिता विकास योजना कहने को तो बेरोज़गारी दूर करनेवाली योजनाएँ हैं लेकिन बजट राशि देखकर ही यह अन्दाज़ा लग जायेगा कि प्रदेश सरकार की मंशा क्या है। शिक्षुता प्रोत्साहन का बजट सिर्फ़ 100 करोड़ है यानी गाय के लिए आवण्टित राशि से कहीं कम। शिक्षुता प्रोत्साहन योजना के तहत युवा उद्योगों में जाकर प्रशिक्षण लेंगे और सरकार की ओर से प्रतिमाह प्रशिक्षण भत्ता प्राप्त करेंगे। भत्ते की रक़म होगी महज़ 2500 रुपये। यह कितना बड़ा मज़ाक़ है उनकी ज़िन्दगी और सपनों के साथ! भत्ते का एक बड़ा हिस्सा तो उनके आने-जाने के किराये में ही निकल जायेगा। दूसरे, यह कोई पक्का रोज़गार नहीं है। और तीसरे, प्रशिक्षण देने के नाम पर उद्योगपतियों को मुफ़्त की श्रम शक्ति हासिल हो जायेगी। युवा उद्यमिता विकास स्कीम भी नौकरी की गारण्टी नहीं देता बल्कि ऋण मुहैय्या कराता है ताकि आप ख़ुद अपना धन्धा लगाएँ, चलाएँ। अब आपका धन्धा चले न चले यह आपकी ज़िम्मेदारी है सरकार की नहीं। तो यह रहा वह झुनझुना जो बेरोज़गारी से निपटने के लिए योगी सरकार ने नौजवानों के हाथों में थमाया है। अगर यह मान भी लिया जाये कि इससे कुछ रोज़गार पैदा हो जायेंगे तो वह प्रदेश की कुल शहरी बेरोज़गार आबादी का 3-4 प्रतिशत भी नहीं होगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नौजवानों को भत्ते की यह मामूली राशि भी मिल पायेगी या नहीं, इसमें सन्देह है, क्योंकि ऐसी ढेरों काग़ज़ी योजनाएँ सरकारों के बस्ते में रखी होती हैं, जिससे जनता को ठगने का काम वह लगातार करती रहती हैं। मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री कमलनाथ ने भी 4000 रुपये बेरोज़गारी भत्ता देने का वायदा किया था लेकिन अभी तक यह कोरा वायदा ही साबित हुआ है। बेरोज़गारी में वृद्धि वहाँ भी जारी है, एक साल में 7 लाख बेरोज़गार बढ़े हैं और उनकी संख्या बढ़कर अब 28 लाख तक पहुँच गयी है।

बेरोज़गारी में बेहिसाब इज़ाफ़ा पूँजीवाद के संकट के साथ ही साथ मोदी सरकार की तानाशाहाना और जनविरोधी नीतियों की देन है। नोटबन्दी और जीएसटी जैसी नीतियों ने पहले से जर्जर अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी। इनके चलते छोटे पैमाने के कारोबार तबाह हो गये और लाखों की संख्या में लोग बेकार होकर सड़क पर आ गये। पहले से ही बदहाल आम आबादी की कमर टूट गयी। कश्मीर में धारा 370 को ख़त्म करने के सरकार के क़दम ने इस संकट को और बढ़ाया। इसने कश्मीरियों के काम-धन्धे को चौपट कर दिया, उनके रोज़गार छीन लिये और उन्हें बेरोज़गारों की भीड़ में ढकेल दिया। जहाँ महीनों से इण्टरनेट सेवाएँ ठप रही हों और आपात जैसी स्थिति हो वहाँ मेहनत-मज़दूरी करनेवाले आम लोगों की रोज़ी-रोटी पर असर पड़ना लाज़मी है।

सरकार बेरोज़गारी के लिए अक्सर बढ़ती आबादी को ज़िम्मेदार ठहराती है। लेकिन यह पूरी तरह ग़लत है। अभी कुछ ही दिन पहले राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण दफ़्तर की रिपोर्ट आयी थी, जिसके मुताबिक़ 2011-12 से लेकर अब तक की अवधि में आबादी में 1.2 प्रतिशत की कमी आयी है। इस लिहाज़ से रोज़गार की उपलब्धता अधिक होनी चाहिए थी। लेकिन यह हक़ीक़त सामने है कि बेरोज़गारी इसी दौर में बढ़ी है। मोदी सरकार आज 5 मिलियन डॉलर अर्थव्यवस्था की जितनी भी बातें कर ले, लेकिन असलियत यह है कि जीडीपी खिसककर 4.5 पर आ चुकी है, रुपये का गिरना लगातार जारी है और अर्थव्यवस्था मन्द मन्दी के लगातार जारी दौर से होकर गुज़र रही है। साफ़ है, आनेवाले समय में बेरोज़गारी का संकट और गहराने वाला है। ऐसी स्थिति में बेरोज़गारी पैदा करनेवाली जनविरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ बेरोज़गार नौजवानों और मेहनतकशों के बेटे-बेटियों को संगठित होकर एक मज़बूत जनान्दोलन खड़ा करना आज की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006